संस्कृतविश्वविद्यालय-ग्रन्थमालाया: 130 पुष्प

भारतीय वाङ्मय में योग परम्परा

योग के आधारभूत तत्त्व

प्रधान-सम्पादक
प्रो. मुरलीमनोहर पाठक
कुलपति

सम्पादक
प्रो. शिवशङ्कर मिश्र
शोधविभागाध्यक्ष

लेखक
डॉ. रमेश कुमार
सहायकाचार्य-योगविभाग

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110016

प्रकाशकः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

बी-4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली-110016

© प्रकाशकाधीनः

प्रकाशनवर्षम् : 2023

ISBN : 978-81-966663-2-3

मुद्रकः

डी.वी. प्रिन्टर्स

97-यू.बी., जवाहरनगरम्, देहली-110007

॥ओ३म्॥

दूरभाष : ०११-२६५२५६६३

ईमेल :-smdnyas99@gmail.com

श्रीमद्दयानन्द-वेदार्ष-महाविद्यालय-न्यास

११९, गौतमनगर, नई दिल्ली-११००४९

[संस्थापित श्रावण पूर्णिमा, संवत् १९९१ तदनुसार २४ अगस्त १९३४] [पंजीकरण संख्या १९५१ सन् १९९९]

क्रमाङ्क : 2K022-4096 (2022-2023) दिनाङ्क : 20/04/2022

आशीर्वचन

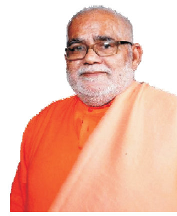

योगविद्या का शाश्वत ज्ञानालोक पारमार्थिक-प्रस्थान का सनातन उद्यम है। यह आर्ष पराविज्ञान निःश्रेयसाभ्युदय की तपः क्रिया का वैदिक अनुष्ठान है। भारतीय योगशास्त्रों में योग-परम्परा का सुविस्तारित व सुप्रशस्त समायोजन, योगमनीषा की प्रबुद्ध अध्यात्मचेतना का प्रसाद है। इस अकूत ज्ञानसम्पदा को **"भारतीय वाङ्मय में योग-परम्परा"** नामक ग्रन्थ में साकार करने का श्रेय प्रियवर डॉ. रमेश कुमार जी (सहायक प्रोफेसर, योग-विज्ञान-विभाग) को जाता है। आपकी विज्ञ लेखनी ने योग-परम्परा का वाङ्मयी ज्ञान दुहकर श्रेयस्कर पुरुषार्थ किया है।

गुरुकुल गौतमनगर की पुण्य तपोभूमि इसी भांति यशस्वी एवं योगनिष्णात युवाओं की प्रसव भूमि बनी रहे, ईश्वर से इस प्रार्थना के साथ मैं आपको हृदयाशीष का प्रसाद प्रदान करता हूँ। डॉ. रमेश कुमार जी योगी 'विश्वयोग चैम्पियन' कृत योग विज्ञान की प्रतिपादक कृति **"भारतीय वाङ्मय में योग परम्परा"** को देखकर मेरा ऐसा अभिमत है कि आपका सहज, स्फूर्त एवं गहन योगबोध निश्चित ही अध्येताओं को ज्ञान सम्पन्नतायुक्त विस्मय प्रदान करेगा।

आपका यह अनुपम रचनाकार्य नवयोग प्रशिक्षुओं के साथ-साथ प्रबुद्ध योग-पिपासुओं की क्षुधा-तृप्ति का अद्भुत योग-सोम होगा, मैं ऐसी अभिलाषा रखता हूँ। प्रमुखतया विश्वविद्यालयीय योग-पाठ्यक्रम के लिए यह अनुपम ग्रन्थ अवश्य ही योगार्थियों में योग-विद्या के प्रति नवीन दृष्टि, बोध एवं कौशल-दक्षता का विकास करेगा; मैं ऐसा देख पा रहा हूँ।

योग प्रशिक्षण, लेखन तथा अनुसंधान में आपका योगपुरुषार्थ इसी भांति चरितार्थ होता रहे, एतदर्थ मैं अनेकानेक आशीर्वाद के साथ आपके समुन्नत, समुज्ज्वल, सदुपयोगी और सुयोगकारी भविष्य की कामना करता हूँ।

प्राचार्य

प्रणवानन्दः

स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती

।।ओ३म्।।

तारातरा मठ

बाड़मेर, राजस्थान

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्

क्रमांक SP-129

दिनांक 10/02/2022

योग-परम्परा-आधारित पुस्तक प्रकाशन हेतु संदेश और शुभकामनाएँ

यह जानकर अत्यंत हर्ष हुआ कि प्रिय डॉ. रमेश कुमार (विश्व योग चैंपियन) (सहायक प्रोफेसर, योग-विज्ञान-विभाग) के अथक एवं सतत प्रयासों के परिणामस्वरूप "भारतीय वाङ्मय में योग परम्परा" योग के आधारभूत तत्त्व नामक अद्वितीय पुस्तक की रचना की गई है। हमारा देश ऋषियों, महर्षियों और योगियों की जन्म व कर्म भूमि रहा है। आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम उनके वैभवशाली इतिहास को समूचे विश्व के सामने प्रस्तुत करें। ताकि हम अपने इस गौरवशाली अतीत पर गर्व करते हुए वर्त्तमान समय में उनके द्वारा प्रदत्त अमूल्य योग के ज्ञान को आत्मसात कर जनकल्याण का कार्य कर सकें।

आपकी महत्वपूर्ण रचना "भारतीय वाङ्मय में योग-परम्परा" में आपने योग का अर्थ, परिभाषा, इतिहास, परम्पराओं, विभिन्न पद्धतियों तथा भारतीय वाङ्मय में योग का स्वरूप, यौगिक ग्रन्थों का परिचय आदि का विस्तृत वर्णन किया हैं।

यह पुस्तक छात्रों के लिए अत्यंत उपयोगी होगी और उनकी आवश्यकताओं को निश्चित पूर्ण करेगी।

इस योग कार्य के साथ-साथ गौरक्षा और गौसेवार्थ कार्यों में भी आप अग्रणी रहेंगे; और विश्व भर में गौरक्षा का आगाज करेंगे।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक जनमानस के लिए भी नये आयाम स्थापित करेगी। इस नूतन रचना के लिए आपको अनन्त शुभकामनाएं। ईश्वर, गौमाता, गुरु महाराज आपको सुखी, आनंदित और निरोगी रखे व उतम स्वास्थ्य प्रदान करे और नित्य प्रतिदिन प्रगति के पथ पर आगे बढ़ावें।

साधुवाद एवं शुभाशीष।

प्रतापपुरी

(महंत 1008 प्रतापपुरी)

श्री तारातरा मठ, बाड़मेर (राज.)

महन्त श्री 1008 प्रतापपुरी जी महाराज,
मठाधीश, तारातरामठ, बाड़मेर (राजस्थान) सम्पर्क - 9414106528
Website : www.taratramath.com | E-mail : taratramath@gmail.com

ओ३म्
पतंजलि योगपीठ (ट्रस्ट)
Patanjali Yogpeeth (Trust)

क्रमांक
S.No. : ....

दिनांक
Dated : 03.05.2023

शुभकामना संदेश

योग अज्ञान से ज्ञान, जड़ से चेतन, जीव से ब्रह्म, प्रत्यक्ष से परोक्ष व शान्त से अनन्त की आध्यात्मिक यात्रा है। यह विचार से निर्विकल्पता, सबीज से निर्बीज, सविकल्प से निर्विकल्पता की ओर बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता या स्थितप्रज्ञता की अन्तर्यात्रा है।

योग शरीर, मन व जीवन के समग्र रूपान्तरण की क्रियात्मक वैज्ञानिक व व्यवहारिक प्रक्रिया है। वासना से इतर उपासना व नशा जन्य शून्यता से इतर आत्मबोध जनित पूर्णमौन व गंभीर शून्यता तदेव अर्थमात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः की अनुभूति है। यहाँ जड़ता नहीं अपितु पूर्ण चैतन्यता व जीवन की पूर्ण सत्यता की अनुभूति है। योग एवं आयुर्वेद सहित सभी वैदिक परम्पराओं को हमें समग्रता एवं सार्वभौमिकता के साथ समझने की आवश्यकता है। योग को व्यापक रूप में आत्मसात् करने से जीवन एक उत्सव बन जाता है तथा इसी से एक समतामूलक, सहज, विकसित, स्वस्थ व सुखी समाज का निर्माण होता है।

हर्ष का विषय है कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के विज्ञान विभाग में सहायक आचार्य डॉ. रमेश कुमार द्वारा योग पर आधारित ग्रन्थ **'भारतीय वाङ्मय में योग परम्परा'** का प्रकाशन किया जा रहा है। ग्रन्थ के सफल प्रकाशन हेतु अनंत शुभकामनाएँ।

(आचार्य बालकृष्ण)
महामंत्री

सम्पर्क कार्यालय : महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली-हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग, निकट बहादराबाद, हरिद्वार-249405, उत्तराखण्ड (भारत)
Admin Office : Maharishi Dayanand Gram, Delhi-Haridwar National Highway, Near Bahadrabad, Haridwar-249405, Uttarakhand, India
Tel. : 01334-240008, 244107, 248888 Fax : 01334-244805, 240664 E-mail : divyayoga@divyayoga.com Web : www.divyayoga.com

डॉ. जयदीप आर्य
Dr. Jaideep Arya

''समत्वं योग उच्यते''

अध्यक्ष, हरियाणा योग आयोग
Chairman, Haryana Yog Aayog
AYUSH Bhawan, Panchkula
Ph: 0172-29303031

D.O. No- 51

Dated:-24/04/2023

शुभकामना संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि (श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय) के प्रकाशन विभाग द्वारा ''भारतीय वाङमय में योग परम्परा'' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है । भारत देश ऋषि, मुनियों और योगियों के जप, तप एवं ज्ञानोपदेश से ओत–प्रोत है। आज के समय में इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम उनके विशिष्ट योगदान को सम्पूर्ण विश्व के समाने प्रस्तुत करें और भारतवर्ष के गौरवशाली अतीत पर गर्व करते हुए उनके द्वारा प्रदत्त अमूल्य योग के ज्ञान को प्रसारित कर जनकल्याण का कार्य कर सकें।

ये पावन कृति डॉ. रमेश कुमार (सहायक प्रोफेसर, योग–विज्ञान विभाग) के भरसक प्रयासों के परिणाम का मधुर फल है । ''भारतीय वाङमय में योग परम्परा'' नामक यह पुस्तक; जो कि छात्रों व योग जिज्ञासुओं की पिपासा को शान्त करने के साथ–साथ साधारण जनमानस को भी योग के प्रति आकर्षित करने का कार्य करेगी । नूतन रचना के लिए मैं लेखक को अत्यन्त शुभकामनाओं के साथ उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घायु का आशीर्वाद प्रदान करता हूं।

डॉ. जयदीप आर्य
चेयरमैन
हरियाणा योग आयोग

प्ररोचना

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन-विभाग द्वारा **"भारतीय वाङ्मय में योग-परम्परा"** नामक पाठ्य पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। हमारा देश ऋषियों, महर्षियों और योगियों के जप, तप एवं ज्ञानोपदेश से ओत-प्रोत है। आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम उनके विशिष्ट योगदान को सम्पूर्ण विश्व के सामने प्रस्तुत करें और भारतवर्ष के गौरवशाली अतीत पर गर्व करते हुए उनके द्वारा प्रदत्त अमूल्य योग के ज्ञान को प्रसारित कर जनकल्याण का कार्य कर सकें।

प्रस्तुत पुस्तक में योग का अर्थ एवं उसकी परिभाषा, योग की परम्पराएँ, योग का इतिहास, योग का महत्त्व, योगी का व्यक्तित्व, आधुनिक युग में योग की उपयोगिता, योग की विभिन्न पद्धतियाँ, विभिन्न शास्त्रों में योग का स्वरूप, योग के ग्रन्थों का परिचय एवं विभिन्न योगियों के जीवन परिचय का विस्तृत वर्णन है। विश्व योग-चैंपियन डॉ. रमेश कुमार (सहायक प्रोफेसर, योग-विज्ञान-विभाग) के अथक एवं सतत प्रयासों के परिणाम का मधुर फल है- **"भारतीय वाङ्मय में योग-परम्परा"** नामक यह अद्वितीय पुस्तक; जो छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक योग-जिज्ञासुओं की पिपासा को शान्त करने के साथ-साथ साधारण जनमानस को भी योग के प्रति आकर्षित करने का काम करेगी। इस नूतन रचना के लिए मैं डॉ. रमेश कुमार को अनन्त शुभकामनाएँ देता हूँ। ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वे ग्रन्थकार को उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घायु जीवन प्रदान करें।

-प्रो. मुरलीमनोहर पाठक

कुलपति, श्री ला.ब.शा.रा.सं.वि.वि.,
कटवारिया सराय, नवदेहली-110016

सम्पादकीय....

- **योगः कर्मसु कौशलम्; समत्वं योग उच्यते,**
- **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः; योगो भवति दुःखहा,**
- **योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय,**
- **संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः,**
- **तं विद्यात् दुःखसंयोगं वियोगं योगसंज्ञितम्।**

इत्यादि शास्त्रीयवचन पुञ्ज योग की महत्ता का प्रतिपद प्रतिपादन करते हैं। योग का अर्थ संयमन, समाधि और संयोग है। अर्थात् चित्तसंयम, अर्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यत्व एवं आत्म- परमात्मसंयोग ही योग है।

विश्वमानवता को पदत्त 'योग' भारत का अद्भुत विज्ञान है। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, भगवान् विष्णु से प्रारम्भ हुई है, जिसका वर्णन गीता में भगवान् ने इस प्रकार किया है-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।

(गीता.-4-1)

इस योगविद्या के साक्षात्कर्ता भारतीय योगियों के अनगिनत संस्मरण हैं। योगबल के प्रभाव से शरीर शुद्धि और समाधिसिद्धि के क्रम में योगियों का सर्वत्र निर्बाधगमन, जल-नभ विचरण, काय परिवर्तन, परकायाप्रवेश, अलभ्य भोगों का लाभ, अतीन्द्रिय पदार्थो का दर्शन अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। आज भी भारतीय तीर्थो, गिरि-कन्दराओं, हिमालयादि पर्वत श्रृंखलाओं में योगियों की चमत्कारिक चर्चाएँ श्रवणगोचर होती रहती हैं।

योग की महिमा अपरिमित है, भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा–हे अर्जुन! तुम योगी बनो, क्योंकि योगी की स्थिति सर्वश्रेष्ठ है–

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

परमात्मा ने सृष्टि के अनन्त जीवों को उनके प्रारब्ध के अनुसार सुख–दुःख भोगने के लिये शरीर प्रदान किया है। इस समस्त चराचर संसार की रचनाओं में भगवान् की सर्वश्रेष्ठ रचना मनुष्य है, क्योंकि अन्य सभी के शरीर केवल भोग हेतु प्राप्त होते हैं (भोगायतनं शरीरम्) जबकि मनुष्य का शरीर श्रेष्ठकर्म कर मुक्त होने के लिए प्राप्त हुआ है, इसीलिए मनुष्य रचना की शास्त्रों में भूरिशः प्रशंसा की गयी है–

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

मनुष्य के इस पाञ्चभौतिक शरीर को सेवा, परोपकार तथा भगवच्चिन्तन के लिए स्वस्थ रखना अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि स्वस्थ शरीर ही सभी धर्मों का सर्वश्रेष्ठ साधन है–

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

शरीर की पूर्णस्वस्थता का एक महत्त्वपूर्ण साधन योग है, क्योंकि योग चित्त की एकाग्रता है और चित्त की एकाग्रता ही सुख शान्ति और आनन्द का मूल है। चित्त की चञ्चलता (तनाव) समस्त व्याधियों का कारण है। यदि चित्त शान्त होगा तो हमारी शारीरिक–मानसिक एवं आध्यात्मिक स्थिति अत्यन्त अनुकूल एवं कल्याणमय होगी।

अतः मनुष्य को अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए अपने आचरण में योग का समावेश करना चाहिए। योग रोगोन्मूलन के साथ–साथ रोगानुत्पाद की सर्वश्रेष्ठ विद्या है। यह अत्यन्त प्रासंगिक सहज एवं सर्वसाध्य है।

विश्वविद्यालय के योगविभाग के विद्वान् डॉ० रमेश कुमार द्वारा पाठ्यक्रम से सम्बन्धित विलिखित ग्रन्थ 'भारतीय वाङ्मय में योग परम्परा' में योग के आधारभूत तत्त्वों का विधिवत् समावेशन किया गया है। यह अत्यन्त सरल एवं सहज भाषा में लिखा गया है, अतः इसके अवबोधन में छात्रों को क्लेशानुभूति नहीं होगी। मा० कुलपति महोदय द्वारा लिखित "प्ररोचना" से सम्वलित तथा अन्य कतिपय विद्वान् महापुरुषों की शुभाशंसा से समन्वित प्रकृत ग्रन्थ योग विद्या के जिज्ञासु छात्र छात्राओं तथा योगशास्त्र के स्वतन्त्र पाठकों के समक्ष सादर प्रस्तुत है।

प्रो० शिवशंकर मिश्र

शोध विभागाध्यक्ष

भूमिका

योग की परम्परा भारतीय संस्कृति के विकास के साथ ही विकसित होती आयी है। इसके उद्भव एवं विकास के चिह्न भारतीय समाज के अध्येताओं को यत्र-तत्र परिलक्षित होते है। वैदिक संहिताओं से लेकर सिन्धु घाटी सभ्यता के शिलालेख समय के समानान्तर अनवरत प्रवाहमान योग की सरिता के साक्षी रहे हैं। भारत का विस्तृत और समृद्ध वाङ्मय योग के विभिन्न सम्प्रदायों के विकास के साथ और भी समृद्ध हुआ है। वैदिक साहित्य के बाद दार्शनिक साहित्य के आरम्भ से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त भी योगशास्त्र का विकास एक व्यापक दार्शनिक पृष्ठभूमि लिए हुए है, जो दार्शनिक जगत् की प्राय: सभी प्रकार की समस्याओं का एक सन्तुलित समाधान प्रस्तुत करता है। दार्शनिक चिन्तन में भी योग के सिद्धान्तों को पर्याप्त आदर एव स्वीकृति मिली और भगवद्गीता सहित सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में यौगिक सिद्धान्तों का पोषण और विस्तार किया गया। प्रस्तुत ग्रन्थ योग के विकास की इस परम्परा का विवरणात्मक चित्र खींचने का एक प्रयास है। साथ ही इसमें समसामयिक परिप्रेक्ष्य में योग के विकास की दिशाओं का आकलन करते हुए इस क्षेत्र में वर्तमान एवं भविष्य की उन संभावनाओं को भी चिह्नित किया गया है; जो योग के स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अध्येताओं तथा अन्य अध्येताओं के लिए समान रूप से उपयोगी हो।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय- **योग का स्वरूप** के अन्तर्गत योग, योग का अर्थ, योग की परिभाषाएं एवं स्वरूप, योग का इतिहास, योग का महत्त्व व उद्देश्य, योगी का व्यक्तित्व, आधुनिक युग में योग की उपयोगिता का ससन्दर्भ परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय **'विभिन्न शास्त्रों में योग का स्वरूप के अन्तर्गत**, वेदों, उपनिषदों, गीता, महाभारत, पुराणों, योगवसिष्ठ, जैन वाङ्मय, बौद्ध दर्शन, वेदान्त, तंत्र

शास्त्र, आयुर्वेद में योग के स्वरूप का विवरण भी दिया गया है। तृतीय अध्याय **योग के प्रकार, परम्परा एवं पद्धतियाँ** में सांख्य योग [ज्ञानयोग], भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, राजयोग, अष्टांगयोग, लययोग, मंत्रयोग, क्रियायोग, आदि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय **योग के ग्रन्थों का सामान्य परिचय** में पातंजल योगसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता, हठयोगप्रदीपिका, घेरंड संहिता, शिव संहिता, गोरक्ष संहिता, भक्तिसागर आदि योगग्रन्थों का सामान्य परिचय दिया गया है।

अध्येताओं के उपयोग को ध्यान में रखते हुए मैंने सीमित ज्ञान एवं समझ के आधार पर योग के सिद्धान्तों का संकलन एवं व्याख्या का प्रयास किया है; जिसे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत हर्ष की अनुभूति हो रही है। इस अवसर पर उन अगणित ग्रन्थकारों का मैं ऋणी हूँ; जिनके मौलिक प्रणयनों का मैनें अपने ग्रन्थ के कलेवर में समावेश किया है। यद्यपि मैंने सावधानी एवं परिश्रम से इसे लिखा है; किन्तु मानवीय प्रमाद या किन्हीं अन्य कारणों से ग्रन्थ में त्रुटियों की संभावना बनी रहती है। विद्वान् पाठक यदि इनकी ओर ध्यान दिलाते हैं, तो आगामी संस्करणों में इनका संशोधन अवश्य किया जाएगा।

– **रमेश कुमार**

।। ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः।।

आभार

ओ३म् एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।

- कठोपनिषद् 2/2/12

अध्यापन के क्षेत्र में शोध का बहुत बड़ा योगदान होता है। शोध में प्रवृत्त व्यक्ति ज्ञान सागर की गहराइयों में पहुँचकर अनेक नवीन विचारों का सृजन करता है। वही उसकी मौलिकता होती है। इस कार्य को वह अकेला सम्पन्न नहीं कर सकता है। उसकी इस यात्रा में गुरुजनों का आशीर्वाद, श्रेष्ठ जनों का मार्गदर्शन, मित्रों की शुभकामनाएँ एवं घर-परिवार के सदस्यों का सहयोग ही सर्वतोभावेन सहायक होता है। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखन से लेकर प्रकाशन तक की इस यात्रा में मुझे भी ऐसा सुखद अनुभव प्राप्त हुआ।

मैं प्रातः स्मरणीय पूज्या माता श्रीमती चमेली देवी व पूज्य पिता श्री लाला राम को कोटि-कोटि नमन करता हूँ; जिनकी कृपा से मुझे योग व आध्यात्मिक विषयों को पढ़ने के लिए वैदिक संस्कृति के योगमय वातावरण से समृद्ध आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय, (झज्जर, हरियाणा) एवं श्रीमद्दयानंद वेदार्ष महाविद्यालय गुरुकुल (गौतम नगर, नई दिल्ली) में अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं अपनी धर्मपत्नी सुचित्रा यादव और पुत्र सोऽहम् यादव का धन्यवाद करता हूँ; जिन्होंने अपना प्रेम व अमूल्य समय देकर इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में मेरा सहयोग दिया।

चिंतन-मनन के उपरांत जो विचार बनते हैं, उनका समुचित प्रकाशन आवश्यक होता है। तभी वह इस क्षेत्र में कार्य कर रहे छात्रों एवं उपदेशकों के लिए उपयोगी होते हैं। एतदर्थ मैं श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति प्रो. मुरलीमनोहर पाठक जी के प्रति

अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ; जिन्होंने विश्वविद्यालय के चहुँमुखी विकास की योजनाओं में शोध एवं प्रकाशन को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

बड़े सौभाग्यशाली होते हैं वे लोग; जिन्हें जीवन में शोध करने का अवसर प्राप्त होता है। मेरे जीवन में यह सुअवसर जिन महान् आत्मा के कारण प्राप्त हुआ है, वे हैं- पूर्व कुलपति प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी (श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय), नई दिल्ली, उनके सतत दिशा निर्देशन, कुशल नेतृत्व और मार्गदर्शन में योग ज्ञान के सिद्धांतों को समझने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। वे सदैव मुझे निष्काम कर्म और कुशल अध्ययन-अध्यापन के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करते रहते हैं। उनके इस भाव को मैं सदा हृदय में धारण करता हूँ।

गुरुओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की इस कड़ी में मैं अपने प्रथम योगगुरु परम श्रद्धेय योगाचार्य हरपाल शास्त्री जी को हृदय से नमन करता हूँ। आचार्यश्री के आचरण में योग को देखकर ही मुझे योग को अपने जीवन में धारण करने की प्रेरणा मिली। दूसरे पूज्य महात्माओं में श्रद्धेय श्री श्री 1008 प्रताप पुरी महाराज (तारातरा मठ, बाड़मेर), स्वामी प्रणवानंद सरस्वती (गुरुकुल गौतम नगर, नई दिल्ली), डॉ. ओमप्रकाश जी महाराज (ओम योग संस्थान, पाली, फरीदाबाद), आचार्य बालकृष्ण जी पतंजलि योगपीठ प्रो. महेश प्रसाद सिलोड़ी (अध्यक्ष, योग-विज्ञान-विभाग।) एवं डॉ. आनंद कुमार, श्री योगेन्द्र कुमार उपाध्याय, प्रो. रामचन्द्र शर्मा जी, श्री अंकुर नागपाल आदि अनेक संत-महात्माओं का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। मैं सभी गुरुजनों संतों महात्माओं का हृदय से धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने मुझे अपनी कृपा का पात्र बनाया।

इसके सुरुचि पूर्ण प्रकाशन हेतु विश्वविद्यालय के शोध एवं प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष प्रो. शिवशंकर मिश्र एवं मुद्रक मैसर्स डी.वी. प्रिंटर्स, जवाहर नगर, दिल्ली-7 के अधिकारियों को हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूं।

अत्यंत प्रयत्न के उपरांत भी अनेक त्रुटियों की संभावना बनी रहती है। सभी सुधी पाठकों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि ऐसी कोई त्रुटि हो, तो उसका परिहार स्वयं करेंगे और मुझे आवश्यक निर्देशन देंगे; जिससे आगामी संस्करण में उन्हें सुधारा जा सके।

-डॉ रमेश कुमार

विषयानुक्रमणिका

शुभकामना सन्देश *vii*

भूमिका *ix*

आभार *xi*

1. प्रथम अध्याय **1–21**

योग का स्वरूप, योग का अर्थ, योग की परिभाषाएँ एवं स्वरूप, योग का इतिहास, योग का महत्त्व व उद्देश्य, योगी का व्यक्तित्व, आधुनिक युग में योग की उपयोगिता

2. द्वितीय अध्याय **22–124**

वेद, वेदों में योग का स्वरूप, उपनिषदों में योग का स्वरूप, गीता में योग का स्वरूप, महाभारत में योग का स्वरूप, पुराणों में योग का स्वरूप, योगवासिष्ठ में योग का स्वरूप, जैन वाङ्मय में योग का स्वरूप, बौद्ध दर्शन में योग का स्वरूप, वेदान्त में योग का स्वरूप, तंत्रशास्त्रों में योग का स्वरूप, आयुर्वेद में योग का स्वरूप

3. तृतीय अध्याय **125–180**

सांख्ययोग [ज्ञानयोग], भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, राजयोग, अष्टांगयोग, लययोग, मंत्रयोग, क्रियायोग, संन्यास योग

4. चतुर्थ अध्याय **181–226**

पातंजल योगसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता, हठयोगप्रदीपिका, घेरंडसंहिता, शिवसंहिता, गोरक्षसंहिता, भक्तिसागर

5. संदर्भ ग्रन्थसूची **227–230**

प्रथम अध्याय

योग का स्वरूप

योग का अर्थ, योग की परिभाषाएँ एवं स्वरूप, योग का इतिहास, योग का महत्त्व व उद्देश्य, योगी का व्यक्तित्व, आधुनिक युग में योग की उपयोगिता।

प्राचीन काल में हमारे देश के ऋषियों, महर्षियों मनीषियों ने ईश्वर प्राप्ति के अनेक साधनों की खोज की थी। उन साधनों में योग-शास्त्र एक साधन है। यौगिक साधनाओं का अभ्यास करके मनुष्य सुख, आनन्द और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। यह स्वयं में सम्पूर्ण शास्त्र है।

'योग' शब्द का अर्थ

'योग' शब्द संस्कृत की युज् धातु से बना है जिसका अर्थ समाधि और मिलना है।

महर्षि पाणिनि 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति **'युज् संयमने'**, **'युजिर् योगे'**[1] और **'युज् समाधौ'**[2]- इन तीन धातुओं से करते हैं।

'युज् संयमने' इन्द्रियों पर संयमन करना या मन पर संयम करना ही योग है।

'युजिर् योगे' 'इसके अनुसार' योग शब्द का अनेक अर्थो में प्रयोग किया गया है। जैसे-जोड़ना, मिलाना, मेल आदि। इसी आधार पर जीवात्मा और परमात्मा का मिलन योग कहलाता है।

---

1. धातुपाठ
2. उणादिकोश

'युज् समाधौ' अर्थात् इसमें योग को समाधि की अवस्था कहा गया है। अर्थात् महर्षि पतंजलि ने 'योग' शब्द को समाधि के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

महर्षि व्यास ने भी **योगः समाधिः** योग को समाधि का वाचक माना है। जिसमें मन को भलीभाँति समाहित किया जाए, उसे समाधि और आत्मा-परमात्मा के मेल को 'योग' कहते हैं।

व्यासजी ने योग शब्द का अर्थ समाधि करते हुए कहा है कि- **योगः चित्तस्य धर्मः समाधिः स च सार्वभौमः।**[1] समाधि चित्त की सार्वभौम अवस्था है।

संस्कृत व्याकरण के आधार पर 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से है :-

1. **युज्यते एतद् इति योगः** - चित्त की वह अवस्था, जब चित्त की समस्त वृत्तियों में एकाग्रता आ जाती है; उसको योग कहते हैं।
2. **युज्यते अनेन इति योगः** - जिससे समस्त चित्तवृत्तियों में एकाग्रता आ जाती है, वह 'योग' है।
3. **युज्यतेऽस्मिन् इति योगः** - वह स्थान; 'योग' अर्थात् जहाँ चित्त की वृत्तियों की एकाग्रता उत्पन्न की जाती है।

योग के विभिन्न साधनों, परंपराओं और धाराओं को हठयोग, मंत्रयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि के नाम से पुकारा जाता है।

योग की परिभाषाएँ एवं स्वरूप

भारतीय दर्शनों में योगविद्या का विशिष्ट एवं सर्वोपरि स्थान है। योग ज्ञान का वेदों, दर्शनों, उपनिषदों, गीता एवं पुराणों आदि प्राचीन ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

---

1. योगदर्शन व्यास भाष्य

योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है :- **योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:**[1] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। चित्त का तात्पर्य, अन्त:करण से है। बाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जब विषयों का ग्रहण किया जाता है, तब मन उस ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाता है। आत्मा साक्षी भाव से देखता है। बुद्धि व अहंकार विषय का निश्चय करके उसमें कर्तव्यभाव लाते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया से चित्त में जो प्रतिबिम्ब बनता है, वही वृत्ति कहलाती है। यह चित्त का परिणाम है। चित्त दर्पण के समान है। अत: विषय उसमें आकर प्रतिबिम्बत होते हैं, अर्थात् चित्त विषयाकार हो जाता है। इस चित्त को विषयाकार होने से रोकना ही योग है। योग के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि ने आगे कहा है- **तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्।**[2]

अर्थात् योग की स्थिति में साधक (पुरुष) की चित्तवृत्ति के निरुद्धकाल में कैवल्य अवस्था की भाँति चेतनमात्र (आत्मा/परमात्मा) स्वरूप में स्थित होना 'योग' है। महर्षि पतंजलि ने समाधि को दो प्रकार का बताया है 1. सम्प्रज्ञात योग तथा 2. असम्प्रज्ञात योग। सम्प्रज्ञात समाधि में तमोगुण गौणतम रूप मे रहता है तथा पुरुष के चित्त में विवेक-ख्याति का अभ्यास रहता है। असम्प्रज्ञात समाधि में सत्त्वादि चित्त में बाहर से तीनों गुणों का परिणाम होना बन्द हो जाता है तथा पुरुष शुद्ध कैवल्य परमात्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही योग है अथवा यही योग का मुख्य उद्देश्य है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है : **संयोग योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो:**[3] अर्थात जीवात्मा व परमात्मा के संयोग की अवस्था का नाम ही योग है।

---

1. योगदर्शन 1/2
2. योगदर्शन 1/3
3. याज्ञवल्क्य स्मृति

महर्षि वसिष्ठ ने मन को शान्त करने के उपाय को योग कहा है :

मनःप्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते[1]

कठोपनिषद् में योग का लक्षण बताते हुए कहा है :

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम्।
अप्रमत्तस्तु सदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।[2]

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित निश्चल हो जाती हैं तथा बुद्धि का व्यापार भी रुक जाता है, इस स्थिति को योग कहते हैं। निश्चय से ज्ञान की उत्पत्ति और कर्म का क्षय ही योग है।

अर्थात् जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती है और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है, उस अवस्था को परमगति कहते हैं। इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग है। जिसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं, अर्थात् प्रमादहीन हो जाती हैं। उसमें शुभ संस्कारों की उत्पत्ति और अशुभ संस्कारों का नाश होने लगता है। यही अवस्था 'योग' है।

मैत्रायण्युपनिषद् में कहा गया है :

एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते।।[3]

अर्थात प्राण, मन व इन्द्रियों का एक हो जाना, एकाग्रावस्था को प्राप्त कर लेना, बाह्य विषयों से विमुख होकर इन्द्रियों का मन में और मन आत्मा में लग जाना, प्राण का निश्चल हो जाना योग है।

योगशिखोपनिषद् में कहा गया है :

---

1. योगवाशिष्ठ
2. कठोपनिषद् 10–11/3/2
3. मैत्रायण्युपनिषद् 6/25

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं तं द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।[1]

अर्थात् अपान और प्राण की एकता कर लेना, स्वरजःरूपी महाशक्ति कुण्डलिनी, स्वरेतःरूपी आत्मतत्त्व के साथ संयुक्त करना, सूर्य अर्थात् पिंगला और चन्द्र अर्थात् इड़ा स्वर का संयोग करना तथा परमात्मा से जीवात्मा का मिलन 'योग' है।

महर्षि चरक, चरक संहिता में योग की चर्चा करते हुए कहते हैं :

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
सुखदुःखमनारम्भात्मध्ये मनसि स्थिरे।।
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः।।[2]

मन का इन्द्रिय एवं विषयों से पृथक् होकर आत्मा में स्थिर होना ही 'योग' बतलाया है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[3]

हे धनंजय! योगस्थ होकर, कर्म-योग में स्थित होकर, कर्म के फल की आसक्ति को छोड़कर, कर्म की सिद्धि या असिद्धि-दोनों अवस्थाओं में समता की मनोवृत्ति को धारण करके कर्म कर। कर्म-फल मिलने या न मिलने-दोनों अवस्थाओं में मन की सम अवस्था रहे, इसी को 'योग' कहते हैं॥

---

1. योगशिखोपनिषद् 1/68-69
2. चरक संहिता शारीर 1/ 39/138
3. श्रीमद्भगवद् गीता 2/48

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।[1]

जो योगी-बुद्धि (बुद्धियुक्त) है, वह सुकृत तथा दुष्कृत-दोनों यहीं छोड़ देता है। इसलिये तू कर्म-योग में जुट जा। 'योग' सब कामों को कुशलता से करने का नाम है।

अमरकोष में योग को ध्यान और संगति का वाचक माना है :

योगः संनहनोपाय ध्यानसंगतियुक्तिषु।[2]

अनेक पुराणों में भी योग के संबंध में अलग-अलग परिभाषाएं मिलती हैं।

अग्निपुराण के अनुसार कहा गया है कि-

आत्ममानसप्रत्यक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते।।[3]

अर्थात् 'योग' मन की एक विशिष्ट अवस्था है; जब मन में आत्मा को और स्वयं मन को प्रत्यक्ष करने की योग्यता आ जाती है, तब उसका ब्रह्म के साथ संयोग हो जाता है। संयोग का अर्थ है कि ब्रह्म की समरूपता उसमें आ जाती है। अग्निपुराण के इस योगलक्षण में पूर्वोक्त याज्ञवल्क्यस्मृति के योगलक्षण से कोई भिन्नता नहीं है। मन का ब्रह्म के साथ संयोग वृत्तिनिरोध होने पर ही सम्भव है।

स्कन्दपुराण भी उसी बात की पुष्टि कर रहा है; जिसे अग्निपुराण और याज्ञवल्क्यस्मृति कह रहे हैं। स्कन्दपुराण में कहा गया है :

यत्समत्वं द्वयोस्तत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
सा नष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते।।

---

1. श्रीमद्भगवत गीता 2/50
2. अमरकोष 6
3. अग्निपुराण 25/379

परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परन्तप।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव।।[1]

यहाँ प्रथम श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा की समता को 'समाधि' कहा गया है तथा दूसरे श्लोक में परमात्मा और आत्मा की अभिन्नता को 'परम योग' कहा गया है। समाधि ही योग है; क्योंकि वृत्तिनिरोध की अवस्था में ही जीवात्मा और परमात्मा की क्षमता और दोनों का अविभाग हो सकता है।

घेरंड संहिता में महर्षि घेरंड कहते हैं कि समाधि की अवस्था ही योग है; क्योंकि समाधि की अवस्था प्राप्त करने पर व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। अत: समाधि ही योग है।

इति ते कथितं चण्ड ध्यानयोगं सुदुर्लभम्।
आत्मा साक्षाद्‌भवेद्यस्मात्तस्माद्ध्यानं विशिष्यते।[2]

इति ते कथितं चण्ड समाधिर्दुर्लभः परः।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्जन्म जायते भूमिमण्डले।।[3]

हे नृप चण्डकापालि! मैंने यह दुर्लभ ध्यानयोग तुमसे कहा है। इसके साधन से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। अत: यह ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ है। ध्यान से ही समाधि योग को प्राप्त किया जा सकता है, इसके ज्ञानमात्र से मनुष्य इस भूमण्डल में आवागमन से रहित हो जाता है अर्थात् जन्म मरण से मुक्त हो जाता है।

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार योग का विशेष महत्त्व है, हठयोग के विषय में मान्यता है :

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते।।[4]

---

1. स्कन्दपुराण
2. घेरण्ड संहिता 6/22
3. घेरण्ड संहिता 7/23
4. ह. प्र. 5/9

अर्थात् जिस प्रकार नमक जल में मिलकर जल की एकरूपता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जब मन वृत्तिशून्य होकर आत्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त कर लेता है; तो मन की उस अवस्था का नाम 'समाधि' है। आत्मा और मन की एकता भी समाधि का फल है। उसका लक्षण नहीं है। इसी प्रकार मन और आत्मा की एकता योग नहीं, अपितु योग का फल है।

योग का इतिहास

वेदों का परिचय :-

सर्वज्ञानमयी वैदिक संहिताओं की प्राप्ति मूलाधार यौगिक प्रक्रिया ही है, अतः वेद से भी पूर्व योगावतरण की स्थिति सिद्ध है। चार ऋषियों ने समाधि की उच्च अवस्था में वेदों का ज्ञान हमें दिया, जो इस प्रकार है :

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृगयजुःसामलक्षणम्।।[1]

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न कर चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराए, उस ब्रह्मा ने समाधि की उच्चावस्था में स्थित महर्षि अग्नि, महर्षि वायु, महर्षि आदित्य और महर्षि अंगिरा को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान दिया। जिन्होंने सर्वप्रथम वेद सुने, वे चारों वेदज्ञ ऋषि थे। बाद में इनकी वाणी को बहुत से ऋषियों ने सुनकर अपने शिष्यों को उपदेश दिया। मनुस्मृति कहती है कि अतिप्राचीनकाल के ऋषियों ने महान् तपस्या द्वारा अपने तपःपूत हृदय में 'परावाक्' वेदवाङ्मय का साक्षात्कार किया था। अतः वे मंत्रद्रष्टा 'ऋषि' कहलाए : **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।**[2]

योग उद्भव का अर्थ योग के प्रारम्भ अथवा उत्पन्न होने से लिया जा सकता है। योग का प्रारम्भ आदिकाल से ही है। सृष्टि का सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद है। वेद वह ईश्वरीय ज्ञान है; जिसमें मानवजीवन के

1. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका "वेदोत्पत्ति विषय" सत्यार्थ प्रकाश और सप्तम समुल्लास
2. मनु (1/13)

प्रत्येक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है तथा जीवन को सुखमय बनाते हुए जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति के मार्ग को समझाया गया है। इस मुक्ति के मार्ग के साधन के रूप में योगमार्ग का उल्लेख किया जाता है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में कहा गया है :

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।[1]

अर्थात् जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। विद्वानों से विद्या प्राप्त करके योगी मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर में ही मन, बुद्धि को युक्त कर सदैव आनन्दित रहें। यहाँ पर मन को योगाभ्यास का निर्देश दिया गया है। अथर्ववेद एवं सामवेद में कहा गया है :

योगे योगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये।।[2]

अर्थात् बार-बार शारीरिक एवं मानसिक बल बढ़ाते समय हम योगाभ्यास कर परस्पर मित्रभाव से युक्त होकर अपनी रक्षा के लिए अनंत बलशाली ऐश्वर्यशाली ईश्वर का ध्यान और उसका आह्वान करते हैं।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[३]

जो स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने वाले सूर्य-चन्द्रमा आदि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का प्रसिद्ध स्वामी एक ही चेतनस्वरूप था, जो सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्तमान था; वह इस भूमि और सूर्य आदि को धारण कर रहा है। हम लोग उस सुखस्वरूप शुद्ध परमात्मा के लिए ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अति प्रेम से विशेष भक्ति किया करें... इत्यादि स्थलों में 'हिरण्यगर्भ' से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

1. यजुर्वेदे 5/14
2. अथर्ववेद 19/24/7, सामवेद 1/2/5/9
3. अथर्ववेद 4/2/7

योग के उद्भव अथवा प्रथम वक्ता के लिए याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है **हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यःपुरातनः**[1] अर्थात् हिरण्यगर्भ ही योग के सबसे पुरातन अथवा आदि प्रवक्ता हैं।

महाभारत में भी हिरण्यगर्भ को ही योग के आदिगुरु के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया :

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।।[2]

अर्थात् सांख्य के वक्ता परम ऋषि मुनिवर कपिल हैं, योग के आदिप्रवक्ता हिरण्यगर्भ हैं।

हिरण्यगर्भ को वेदो में स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि हिरण्यगर्भ परमात्मा का ही एक विश्लेषण है अर्थात् परमात्मा को ही हिरण्यगर्भ के नाम से पुकारा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि योग के आदिवक्ता परमात्मा (हिरण्यगर्भ) हैं; जहाँ से इस बात का ज्ञान का उद्भव हुआ तथा वेदों के माध्यम से इस विद्या का प्रादुर्भाव संसार में हुआ।

योग के प्रसिद्ध ग्रन्थ हठयोगप्रदीपिका के प्रारम्भ में आदिनाथ शिव को योग के प्रर्वतक के रूप में नमन करते हुये कहा गया है :

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै
येनोपदिष्टा हठयोगविद्या[3]

योगविद्या का उपदेश हिरण्यगर्भ (परमात्मा) द्वारा किया गया तथा वेदों मे इसका वर्णन प्राप्त हुआ, वेदों के उपरान्त इस विद्या का प्रचार प्रसार संसार में हुआ तथा यह विकास अभी तक निरन्तर चलता आ रहा है।

---

1. याज्ञवल्यक्य स्मृति
2. महाभारत
3. हठयोग प्रदीपिका 1/1

योग का महत्त्व व उद्देश्य

प्राचीनकाल में योगविद्या ब्राह्मचारी, मुनियों, साधुओं और संन्यासियों या मोक्षमार्ग के साधकों के लिए ही समझी जाती थी तथा योगाभ्यास के लिए साधक घर को त्यागकर वनों, जंगलों और पर्वतों पर जाकर एकांत में वास कर साधना करते थे। इसी कारण योगसाधना को बहुत ही दुर्लभ माना जाता था। जिससे लोगों में यह धारणा बन गयी थी कि यह योग सामाजिक व्यक्तियों के लिए नहीं है। जिसके फलस्वरूप यह योगविद्या धीरे-धीरे लुप्त होती गयी।

योग की लोकप्रियता और महत्त्व के विषय में हजारों वर्ष पूर्व ही योगशिखोपनिषद् में कहा गया है :

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं शिवम्।
योगात्परतरां शक्तिं योगात्परतरं न हि॥[1]

अर्थात् योग के समान कोई पुण्य नहीं, योग के समान कोई कल्याणकारी नहीं, योग के समान कोई शक्ति नहीं और योग से बढ़कर कुछ भी नहीं है। वास्तव में योग ही जीवन का सबसे बड़ा आश्रय है। कुछ ग्रन्थों में भी योग अध्ययन के उद्देश्य को समझाते हुए मनीषियों ने कहा है :

द्विजसेतिलशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः॥[2]

गोरखसंहिता अर्थात् वेदरूपी कल्प वृक्ष के फल, इस योग शास्त्र का सेवन करो; जिसकी शाख मुनिजनों से सेवित है और यह संसार के तीन प्रकार के तापों का शमन करता है।

योगात्सम्प्राप्यते ज्ञानं योगाद्धर्मस्य लक्षणम्।
योगः परं तपो ज्ञेयं समाधुक्तः समभ्यसेत्॥[3]

1. योगशिखोपनिषद् 67
2. गोरखसंहिता 5/20
3. गोरखसंहिता 5/2

योगसाधना से ही वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है, योग ही धर्म का लक्षण है, योग ही परमतप है। इसलिए योग का सदा अभ्यास करना चाहिए। संक्षेप में कहा जाए, तो जीवात्मा का विराट् चेतन से सम्पर्क जोड़कर दिव्य आदान प्रदान का मार्ग खोल देना ही योग अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥[1]

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।[2]

जब मनुष्य योगांगों का अनुष्ठान करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो, तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है :

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥[3]

योगाभ्यास से शरीर में हलकापन, नीरोगता, मन की स्थिरता, शरीर में ओज की वृद्धि, सुगन्ध एवं रोग-शोक से छुटकारा होता है। अविद्या का नाश होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा–** यह प्रज्ञा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराने में समर्थ होती है।

---

1. मनुस्मृति 6/54
2. योगदर्शन 2/28
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/13

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।[1]

योग से आत्मदर्शन कर लेना परम धर्म (कर्त्तव्य) है।

गीता में भगवान श्रीकृष्णजी कहते हैं :

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥[2]

अर्थात् योगी तपस्वी, ज्ञानी और कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ हैं। सांख्य और योग– ये दो प्राचीन मार्ग हैं; जिनमें से किसी एक का आश्रय लेकर अन्तिम लक्ष्य (मुक्ति) को प्राप्त किया जा सकता है।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥[3]

ज्ञानयोग से सांख्यनिष्ठा (स्थिति) और निष्काम कर्मयोग से योगनिष्ठा की प्राप्ति होती है। चित्तवृत्ति का नाश (दग्धबीज) करने के दो साधन ज्ञानयोग तथा योगाभ्यास हैं। सम्यक् ज्ञान से सांख्य तथा चित्तवृत्ति निरोध से योग प्राप्त किया जा सकता है। घेरंड संहिता में कहा गया है :

नास्ति मायासमं पापं नास्ति योगात्परं बलम्।
नास्ति ज्ञानात्परो बन्धुर्नाहङ्कारात्परोरिपुः॥[4]

माया के समान कोई पाप नहीं है और योग से परे कोई बल नहीं है। ज्ञान के समान कोई बन्धु नही है और अहंकार के सामान कोई शत्रु नही है।

स्वामी स्वात्मारामजी हठयोगप्रदीपिका में कहते हैं :

सर्वे हठलयोपायाः राजयोगस्य सिद्धये।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः॥[5]

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय 1/8
2. गीता. 6/46
3. गीता, 3/3
4. घेरंड संहिता 1/4
5. हठयोग प्रदीपिका 4/103

अर्थात् हठयोग की सभी साधना तथा नादानुसन्धान आदि चित्तलय के सभी उपाय राजयोग तक पहुँचने के लिए ही हैं; क्योंकि जिसने राजयोग में सिद्धि प्राप्त कर ली, वह मृत्यु को भी जीत लेता है। आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति, ज्ञान का उदय और कर्म का क्षय होकर परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

योगी का व्यक्तित्व

हठयोगप्रदीपिका में स्वामी स्वात्मारामजी योगी के व्यक्तित्व के विषय में कहते हैं :

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगताबिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिः हठयोगलक्षणम्।।[1]

अर्थात् शरीर का हल्का हो जाना, मुख पर निरन्तर प्रसन्नता का रहना, अनाहतनाद स्पष्ट सुनाई पड़ना, नेत्रों का निर्मल होना, शरीर का पूर्ण निरोग होना, वीर्य पर विजय, जठराग्नि का तीव्र होना और सुषुम्ना नाड़ी की पूर्ण शुद्धि होना। ये सभी हठयोग में सिद्धि के लक्षण हैं।

शिवसंहिता के अनुसार :

हठयोगप्रदीपिका के समान ही **"शिवसंहिता"** में भी योगी के लक्षणों का अत्यंत सुंदर वर्णन किया गया है :

प्रौढवह्निः सुभोगीं च सुखी सार्वाङ्गसुन्दरः
सम्पूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहबलान्वितः।
जायते योगिनो वश्यमेतत्सर्वं कलेवरे।।[2]

अर्थात्-योग साधक प्रदीप्त जठराग्नि वाला, उचित अर्थात् यौगिक आहार ग्रहण करने वाला, सुखी, सभी प्रकार के बल एवं उत्साह से परिपूर्ण उदार हृदय वाला होता है।

---

1. हठयोग प्रदीपिका 2/7
2. शिवसंहिता 3/33

ऐसे सभी लक्षण योगी के शरीर में निश्चित ही आ जाते हैं।

वसिष्ठ संहिता के अनुसार :

योगी के विभिन्न लक्षण एवं हठसिद्धि के लक्षणों को बताते हुए वसिष्ठ संहिता में कहा गया है :

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक् चिह्नोपलक्षिताम्।
शरीरलघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्धनम्।।
नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तच्छुद्धिसूचकम्।
यावदेतानि सम्पश्येत्तावदेवं समाचरेत्।।[1]

अर्थात् योग सिद्ध होने पर नाड़ी शुद्धि सूचक पृथक्-पृथक् चिह्न प्राप्त होते हैं। जैसे शरीर में हल्कापन, कांति, जठराग्नि का बढ़ना और नाद का आविर्भाव- ये सभी पिंड चिह्न दिखाई देते हैं।

योगतत्त्व उपनिषद् के अनुसार :

इस उपनिषद में योगी के लक्षणों की चर्चा करते हुए कहा गया है :

जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः।
शरीरलघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्धनम्।।
कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम्।
योगविघ्नकराहारं वर्जयेद्योगवित्तमः।।[2]

योग शरीर में हल्कापन अनुभव कराता है और जठराग्नि को बढ़ाता है, जीवन को सुगम और सुखमय बनता है।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण :-

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।[3]

---

1. वसिष्ठसंहिता 2/68, 69
2. योगतत्व उपनिषद
3. गीता 2/54

अर्जुन ने पूछाः हे केशव! जो व्यक्ति स्थिर बुद्धिवाला है, स्थित-प्रज्ञ है, जो समाधिस्थ है, वह किस प्रकार का होता है? इस स्थिरबुद्धि वाले, स्थितप्रज्ञ और समाधिस्थ व्यक्ति को किस ढंग से बोलना चाहिये? किस ढंग से बैठना चाहिये? किस ढंग से चलना चाहिये? (उसके लक्षण क्या हैं?)

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।[1]

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! जब मनुष्य अपने मन में गति करने वाली सब कामनाओं को त्याग देता है, और जब वह अपने आप से अपने में ही सन्तुष्ट रहने लगता है, (अपने सन्तोष के लिये बाहर के विषयों पर आश्रित नहीं रहता); तब वह 'स्थित-प्रज्ञ' (स्थिर-बुद्धिवाला) कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।[2]

जिसका मन दुःखों से उद्विग्न (बेचैन) नहीं हो जाता, सुखों में जिसकी लालसा मिट जाती है; जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है; वह स्थिर-बुद्धि वाला व्यक्ति 'मुनि' कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।[3]

सब बातों में जो लगावरहित (आसक्तिरहित, अनभिस्नेह) है, जिसको यथाप्राप्त शुभ-अशुभ का आनन्द या विषाद नहीं होता, कहना

---

1. गीता 2/55
2. वहीं 2/56
3. वहीं 2/57
4. वहीं 2/58

चाहिये कि उस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो गई है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।[1]

जिस प्रकार कछुआ अपने अंग सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है; तब यह कहना चाहिये कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है अर्थात् वह 'स्थित धी:' बन गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा: जब कोई मनुष्य अपनी समस्त मनोगत कामनाओं या इच्छाओं, वासनाओं को त्याग देता है और अपने ही द्वारा अपने में संतुष्ट रहता है; तब उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है। जो दु:खों में उद्विग्न मन वाला नहीं होता तथा सुख अर्थात् अनुकूल परिस्थितियों की प्राप्ति में जिसकी स्पृहा तृष्णा नष्ट हो गयी है अर्थात् ईंधन डालने से जैसे अग्नि बढ़ती है वैसे ही सुख के साथ-साथ जिसकी लालसा नहीं बढ़ती तथा राग, भय, क्रोध आदि जिसके नष्ट हो गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। सब बातों में जो लगावरहित आसक्तिरहित (अनभिस्नेह:) है, जिसको यथा प्राप्त शुभ-अशुभ का आनन्द या विषाद नहीं होता, कहना चाहिये कि उस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो गई है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंग सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है तब यह कहना चाहिये कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है अर्थात् वही योगी है।

आधुनिक युग में योग की उपयोगिता

शिक्षा

योग का मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रयोग हो रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के बच्चों पर बढ़ते तनाव को योगाभ्यास से कम किया जा रहा है। योगाभ्यास के द्वारा बच्चों को शारीरिक ही नहीं बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक रूप से

1. गीता 2/58

भी मजबूत बनाया जा रहा है। आज देश-विदेश के सभी शिक्षण संस्थाओं मे शारीरिक शिक्षा के साथ-साथ आई आई टी, शिक्षाशास्त्र और एन आई टी, कम्प्यूटर, मनोविज्ञान, प्रबन्धन विज्ञान आदि के अनेक विषयों में योग पढ़ाया जा रहा है। योग-ध्यान के अभ्यास द्वारा विद्यार्थियों के मानसिक तनाव को कम करते हुए उनकी एकाग्रता व स्मृति शक्ति को भी बढ़ाया जा सकता है।

स्वास्थ्य

योगाभ्यास पर हुए अनेक शोधों से आये सकारात्मक परिणामों के कारण योग को भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में पुनः एक नयी पहचान मिली है। आज विश्व स्वास्थ्य संगठन भी इस बात को मान चुका है कि वर्तमान में तेजी से फैल रहे मनोदैहिक रोगों में योगाभ्यास विशेष रूप से उपयोगी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का मानना है कि योग एक सुव्यवस्थित व वैज्ञानिक जीवनशैली है; जिस को अपनाकर अनेक प्रकार के घातक रोगों से बचा जा सकता है। योगाभ्यास के षट्कर्मों द्वारा व्यक्ति के शरीर में स्थित विषैले पदार्थों का आसानी से निष्कासन हो जाता है। वहीं योगासन के अभ्यास से शरीर में लचीलापन बढ़ता है। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा व्यक्ति के शरीर में प्राणशक्ति की वृद्धि होती हे। मन एकाग्र होता है।

रोगोपचार

आज भागदौड़ की जिंदगी में मनुष्य अनेक रोगों से ग्रसित हुआ है जिसका एक मात्र समाधान है योगाभ्यास; सम्भवतः रोगों पर योग के इस सकारात्मक प्रभाव के कारण ही विश्वभर में योग का पुनः इतना प्रचार-प्रसार व सम्मान हुआ है। रोगों की एलोपैथी चिकित्सा में कई प्रकार के दुष्प्रभाव देखने को मिलते हैं, वहीं योग हानिरहित पद्धति है। आज देश-विदेशों में की अनेकों स्वास्थ्य से सम्बन्धित संस्थाएं भी योगचिकित्सा पर तरह-तरह के शोधकार्य कर रही हैं। जिसके सकारात्मक परिणाम हमारे सामने हैं। आज योग द्वारा उच्च व निम्न रक्तचाप, दमा,

हृदय रोग, संधिवात, मधुमेह, मोटापा, चिन्ता, अवसाद आदि मानसिक रोगों का प्रभावी रूप से उपचार किया जा रहा है। तथा अनेकों लोग इससे स्वस्थ हो रहे हैं।

खेलकूद

आज योगासन स्वयं एक खेल बन चुका है। युवा एवं खेल मंत्रालय भारत सरकार और योग ऋषि स्वामी रामदेव जी के निर्देशन में **"नेशनल योगासन स्पोर्ट्स फेडरेशन"** आज पूरे देश में राज्य, राष्ट्रीय व अंतराष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगिताओं का आयोजन कर रहा है। इसके साथ-साथ ही आज योगासनों की प्रतियोगिताएं **खेलो इंडिया, स्कूल नेशनल गेम्स, ऑल इंडिया इंटर यूनिवर्सिटी गेम्स, सी.बी.इस.ई. गेम्स** आदि अनेक सरकारी संस्थाओं द्वारा आयोजित की जा रही है।

योगाभ्यास का अन्य खेलों के क्षेत्र में भी विशेष महत्त्व है। योगाभ्यास द्वारा विभिन्न खेलों के खिलाड़ी अपनी कुशलता, क्षमता व योग्यता आदि को बढ़ाते हैं। योगाभ्यास से खिलाड़ियों के तनाव में कमी आती है, वहीं दूसरी ओर इससे खिलाड़ियों की एकाग्रता व बौद्धिक तथा शारीरिक क्षमता भी बढ़ती है। अनेक खेलों के खिलाड़ी जैसे- क्रिकेट, भारोत्तोलन, भालफेंक, कुश्ती, कबड्डी, बास्केटबाल, वालीवाल, बेडमिंटन, चैस आदि के खिलाड़ी अपनी एकाग्रता लाने, शरीर में लचीलापन बढ़ाने तथा शरीर की क्षमता बढ़ाने के लिए रोजाना योगाभ्यास को समय देते हैं।

पारिवारिक महत्त्व

परिवार समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है यह व्यक्ति के विकास की नींव है। योग व्यक्ति में पारिवारिक मूल्यों एवं मान्यताओं को भी जागृत करता है। योगाभ्यास द्वारा आत्मीयता, अपनत्व एवं सदाचार- जैसे गुणों का विकास होता है। योगाभ्यास स्वस्थ परिवार की आधारशिला है। वर्तमान में घटती संयुक्त परिवार व्यवस्था व बढ़ती एकल परिवार व्यवस्था ने अनेकों प्रकार की समस्याओं को जन्म दिया

है। आज समाज के परिवार का सदस्य संवेदनहीन, असहनशील, क्रोधी, स्वार्थी हो रहा है। जिसके कारण परिवार की धुरी धीरे- धीरे कमज़ोर होती जा रही है। योगाभ्यास से इस प्रकार की दुष्प्रवृत्तियाँ स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं।

सामाजिक महत्त्व

समाजोत्थान में योग अभ्यास का महत्त्व पूर्ण स्थान है। योग व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास करता है। योगाभ्यास द्वारा एक स्वस्थ, संस्कारित व आदर्श समाज की स्थापना होती है। आज योग समाज को एक नयी दिशा प्रदान कर रहा है। योग लोगों के मनों को ईर्ष्या, राग, द्वेष, आदि से मुक्त कर देता है। जिससे समाज में एकता व बंधुत्व की भावना का विस्तार होता है।

आर्थिक महत्त्व

मानव जीवन में योग विद्या और आर्थिक स्तर का सीधा सम्बन्ध है। शास्त्रों में वर्णित "पहला सुख नीरोगी काया" दूजा सुख है "धन और माया" इस आधार पर योगाचार्यो ने पहला धन नीरोगी काया को माना है। अधिक परिश्रम करके एक स्वस्थ व्यक्ति ही अपनी आय को बढ़ा सकता है। जबकि दूसरी तरफ शरीर में रोग होने के कारण व्यक्ति औषधियों व उपचार पर व्यय करता है। योगाभ्यास से व्यक्ति में एकाग्रता की वृद्धि होने के साथ- साथ उसकी कार्यक्षमता का भी विकास भी होता है।

आजकल तो बड़े-बड़े उद्योगपति व फिल्म जगत के प्रसिद्ध लोगों को भी अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए योगाभ्यास करते हुए देखा जा रहा है। इस प्रकार योग क्षेत्र में काम करने वाले योग प्रशिक्षक भी योगविद्या द्वारा धन अर्जित कर रहे हैं। आज देश-विदेश में अनेको योग केन्द्र चल रहे हैं; जहां शुल्क लेकर योग सिखाया जा रहा है। और प्रत्येक वर्ष सैकड़ों योग जिज्ञासु भारत आकर योग प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं; जिससे आर्थिक लाभ प्राप्त होता है।

निष्कर्ष

योग वास्तव में वैज्ञानिक जीवन पद्धति है इसका हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष पर गहराई से प्रभाव पड़ता है। इसी कारण से यह केवल संन्यासियों और योगियों की विद्या न रहकर पूरे समाज तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदर्श जीवन पद्धति बन चुकी है।

द्वितीय अध्याय

विभिन्न शास्त्रों में योग का स्वरूप

वेद, वेदों में योग का स्वरूप, उपनिषदों में योग का स्वरूप, गीता में योग का स्वरूप, महाभारत में योग का स्वरूप, पुराणों में योग का स्वरूप, योगवासिष्ठ में योग का स्वरूप, जैन वाङ्मय में योग का स्वरूप, बौद्ध दर्शन में योग का स्वरूप, वेदान्त में योग का स्वरूप, तंत्रशास्त्रों में योग का स्वरूप, आयुर्वेद में योग का स्वरूप।

योग भारतीय संस्कृति एवं चिन्तनधारा की अमूल्य निधि है; जो सृष्टि के आदिकाल से लेकर आज तक अविच्छिन्न रूप से गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में चली आ रही है। विश्व के प्रायः सभी धर्म-दर्शनों में योग किसी-न-किसी रूप में स्वीकृत है; क्योंकि योग का सम्बन्ध मनुष्य की अन्तरात्मा से है। 'योग' वह साधन है; जिसके द्वारा मनुष्य अपनी आत्मा का विकास कर अपने जीवन में दिव्यता अर्थात् पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। योग अमृत है; जिसके द्वारा मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर पाता है। योग वह विद्या है; जिससे जीव का रूपान्तरण ब्रह्म के रूप में होता है; क्योंकि योग ब्रह्मविद्या है। भारतीय योग परम्परा में प्रमुख रूप से तीन धाराएँ-वैदिक, बौद्ध और जैन-स्वीकृत हैं। वैदिकधारा में वेद, उपनिषद, गीता, पुराण आदि ग्रन्थों में विभिन्न प्रकारों की चर्चा की गई है। जैनधारा में योग के विषय की चर्चा ध्यानशतक, मोक्षपाहुड, समाधितन्त्र, तत्त्वार्थसूत्र, इष्टोपदेश, योगबिन्दु, योगसार, योगशतक, ज्ञानसार आदि साहित्य में की गई है। बौद्धपरम्परा में तत्त्वज्ञान तथा निर्वाण की प्राप्ति के साधन के रूप में योग की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। विशुद्धिमग्ग और मिलिन्दप्रश्न नामक बौद्धसाहित्य में योग की पर्याप्त चर्चा की गई है।

वेद

अर्थवाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। निरुक्त के इस वचन का विश्लेषण करते हुए सायणाचार्य कहते हैं कि पूर्वकाण्डोक्त धर्म का ज्ञान वाणी का पुष्प है और उत्तरकाण्डोक्त ब्रह्म का ज्ञान उसका फल है। जैसे लोक में पुष्प फल का उत्पादक होता है, उसी प्रकार वेद के उपदेश आदि से जो धर्म का ज्ञान होता है; वह अनुष्ठान द्वारा ब्रह्मज्ञानरूपी फल की इच्छा उत्पन्न करता है। और जैसे फल तृप्ति का हेतु होता है, वैसे ही यह भी कृतकृत्यता का हेतु होता है। इसी प्रकार वेद के अनुबन्धचतुष्टय का विचार करते हुए सायण ने कहा है :

वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणोः विषयः[1]

अर्थात् वेद में पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड क्रम से धर्म तथा ब्रह्म के विषय हैं। सायण ने अपने कथन की पुष्टि के लिए शाबरभाष्य तथा शांकरभाष्य का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है। सायण के मत में वेद और वेदांग सभी अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं और उपनिषद् पराविद्या है। इस प्रकार वेद का प्रतिपाद्य विषय धर्म है और उपनिषदों का ब्रह्म। किं च धर्म का अर्थ है : अनुष्ठान के अनन्तर होने वाला अदृष्ट। अनुष्ठान का अभिप्राय है : यज्ञ आदि करना। इस प्रकार वेद का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ आदि का विधान है और वेदार्थज्ञान अनुष्ठान के लिए आवश्यक है।

सायणाचार्य एवम् उव्वट, महीधर आदि ने वेदमन्त्रों को यज्ञानुष्ठान के लिए विभिन्न विनियोगों में नियुक्त किया है। ये वैज्ञानिक धरातल पर सटीक प्रमाणित होते हैं। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने वेदों में एक दूसरे ही प्रकार के देवतावाद का प्रतिपादन किया है। उनके विचार में वेदों में तैंतीस देवताओं की उपासना कही गई है। एक स्थल पर तो वेदमन्त्र में 3339 देवता गिनाए गए हैं, फिर भी वे इसे बहुदेवतावाद संज्ञा नहीं देते; क्योंकि वेदों का बहुदेवतावाद ग्रीक व रोमन के बहुदेवतावाद से मेल नहीं खाता। ग्रीक व रोम में बहुदेवतावाद का अर्थ है : एक परम देव के शासन में अनेक छोटे-बड़े देवताओं का होना। उनके विचार में

1. ऋग्वेदभाष्यभूमिका सायणाचार्य, पृ 0 108-109

वैदिक देवतावाद इससे सर्वथा भिन्न हैं; क्योंकि वैदिक ऋषि प्रत्येक देवता को परम देव मानकर पूजते थे, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो। इस वैदिक देवतावाद को मैक्समूलर ने नया नाम दिया "केनोथिइज्म"[1] अर्थात् एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा "हीनोथिइज्म" अर्थात् पृथक्-पृथक् देवताओं की पूजा[2]। वेदों के वर्ण्य विषयों की दृष्टि से महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण व्यापक है। उन्होंने सायण का निराकरण करते हुए लिखा है कि 'सायणाचार्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थ को न जानकर कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं। उनकी यह बात मिथ्या है।[3] 'महर्षि दयानन्द के अनुसार वेद के अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमे से चार मुख्य है : 1. ज्ञान, विज्ञान, कर्म और उपासना।

1. ज्ञान : ज्ञान का अर्थ है : पृथ्वी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का बोध। इसे हम भौतिक विज्ञान के अर्थ में ले सकते हैं। वेद की भाषा में विज्ञान ईश्वर, आत्मा आदि के ज्ञान को कहते हैं, जबकि ज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों के अर्थों में आता है।

2. विज्ञान : विज्ञान से तात्पर्य ज्ञान की उस प्रणाली है; जिसमें ज्ञान, कर्म, उपासना- इन तीनों के समुचित उपयोग से परमेश्वर से लेकर समस्त पदार्थों का बोध होता हो तथा मानव जाति के अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति में उनका यथावत् उपयोग होता हो। इस प्रकार वेदों का मुख्य विषय है। महर्षि दयानन्द विज्ञान के भी दो भेद मानते हैं :

अ) ईश्वर का यथावत् ज्ञान एवम् उसकी आज्ञाओं का पालन।

आ) पदार्थ विद्या का ज्ञान अर्थात् पदार्थों के गुणों व उपयोगों को जानना। इन दोनों में महर्षि दयानन्द ईश्वर-विषय को ही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बताते हैं।

1. ऋग्वेदभाष्यभूमिका सायणाचार्य, पृ. 113-114
2. F.Max Muller, India What can It Teach Us? Page 146-147, 1892
3. ऋग्वेदभाष्यभूमिका भाष्यकरण-शङ्का-समाधानादिविषय/ पृ० 251

3. कर्म : जीवन में परमार्थ तथा लोक व्यवहार की सिद्धि करने वाला कर्मकाण्ड बताया गया है। स्वामीजी का कर्मकाण्ड से तात्पर्य केवल यज्ञ-याग से नहीं है, वरन् वे उसमें जीवन की उन समस्त क्रियाओं का समावेश करते हैं; जिनसे सब का उपकार होता है।[1]

4. उपासना : इसमें परमेश्वर की प्राप्ति के लिए स्तुति, प्रार्थना, उपासना के समस्त यौगिक साधनों का समावेश है।

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में वेदों में केवल अपरा विद्या ही नहीं है; अपितु परा विद्या भी है। जिसको पहले ज्ञान कहा है, उसे दूसरे शब्दों में अपरा विद्या कहा गया है। अपरा का ही फल परा है। इस प्रकार सभी वेद केवल अपरा विद्या के अन्तर्गत नहीं आते, उनमें परा विद्या भी है। उसका ही वर्णन, उपनिषद्, सांख्य, योग, वेदान्तादि शास्त्रों में विशद रूप से किया गया हैं : "व्यापनशील परमात्मा के अत्यन्त आनंदरूपी प्राप्तव्य मोक्ष पद को योगी विद्वान् सदैव सर्वत्र व्याप्त हुआ देखते हैं। जैसे कि स्वच्छ आकाश में देदीप्यमान सूर्य के प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म-पद भी स्वयं प्रकाशरूप सर्वत्र व्याप्त हो रहा है।"[2] उस पद की प्राप्ति से उत्तम कोई अन्य प्राप्ति नहीं है। इसलिए चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने का प्रबल प्रतिपादन कर रहे हैं। व्यास मुनि ने भी वेद का समर्थन किया है कि 'सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है; कहीं-कहीं साक्षात् रूप से और कहीं-कहीं परम्परा से।[3] इसी कारण से यह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है और इससे पृथक् जो जगत् आदि अर्थ है; वह गौण है।

प्रधान और अप्रधान की प्रवृत्ति में प्रधान का ही ग्रहण होता है।[4] इस व्याकरणशास्त्र के नियमानुसार अधिक प्राप्ति कराने और करने में

1. तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः सर्वक्रियामयोऽस्ति। पृ. 32 ऋ.भा.भू. वेदविषय पृ.32
2. तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दीवीव चक्षुरातम्।। -ऋग्वेद 1/11/20; सामवेद 1672
3. तत्तु समन्वयात्। वेदान्तदर्शन 1/1/4
4. प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः।। -पा.व्या.म.भा.

है।[1] गौण ग्रन्थ में केवल प्रधान विषय अर्थों को विषय से सम्बद्ध जानकर इस विज्ञानकाण्ड को ही लिया है; अर्थात् वेदमन्त्रों के अर्थ आधिभौतिक तथा आधिदैविक सम्भव होते हुए भी सम्बद्ध विषयानुसार आध्यात्मिक अर्थों को ही प्रकाशित किया है।

वेदों में योग

सर्वज्ञानमयी वैदिक संहिताओं का मूलाधार यौगिक प्रक्रिया ही है। अतः वेद से भी पूर्व योगावतरण की स्थिति सिद्ध है। योगी-परम्परा की मान्यता है कि 'हिरण्यगर्भः' ही योग के आदि प्रवक्ता हैं, अन्य कोई नहीं।[2] ऋग्वेद में इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जब सृष्टि नहीं हुई थी, तब एक अद्वितीय हिरण्यगर्भ- जो सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ, उत्पत्तिस्थान, उत्पादक है, वह ही प्रथम वह ही सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है।[3] इस प्रकार हिरण्यगर्भ की स्तुति वेदों में अन्यत्र भी की गई है। यह हिरण्यगर्भ परमात्मा ही है; क्योंकि वही उत्पन्न हुए सब प्राणियों का स्वामी हो सकता है, जिसको अन्य शास्त्रों में भी स्वीकार किया है। यदि हिरण्यगर्भ नामक कोई ऋषि होता, तो अन्य ऋषियों के समान पुराण, इतिहास आदि में उसका कोई इतिहास उपलब्ध होता। हिरण्यगर्भ-परमात्मा गुरुओं का भी गुरु है, वही सब से पुरातन है।

महाभारत में सांख्य का प्रवक्ता कपिल तथा योग का आदिप्रवक्ता हिरण्यगर्भ को बताया गया है।[4]

योग प्रकट होने के रहस्य दर्शाते हुए आगे कहा है कि यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही है, जिसकी वेद में स्तुति की गई है एवं जिसकी योगी लोग उपासना करते हैं, जो संसार में विभु कहा गया है।[5]

1. ऋग्वेदभाष्य भूमिका वेदविषय विचार।
2. हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। याज्ञवल्क्य स्मृति
3. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। ऋ. 10/121/1; यजु. 13/4
4. महाभारत 12/349/65
5. महाभारत 12/342/96

इस हिरण्यगर्भ भगवान् को समष्टि-बुद्धि कहा है, इसी को योगी लोग महान् तथा विरञ्चि और अजर (अजन्मा) भी कहते हैं।[1] 'अद्भुत रामायण' में तो स्पष्ट ही हिरण्यगर्भ को जगत् का अन्तरात्मा बताया गया है। श्रीमद्भागवत में कहा है कि 'हे योगेश्वर!' यह योगकौशल वही है; जिसे भगवान हिरण्यगर्भ ने कहा था।[2] 'अतः वैदिक-योग का आदि प्रवक्ता हिरण्यगर्भ परमात्मा ही है। पूर्वोक्त गुणों से युक्त परमात्मा की महत्ता बताते हुए' **महानिति च योगेषु** 'श्लोकांश के अर्थ में टीकाकार नीलकण्ठ ने कहा है : 'योगेषु एष महानिति प्रथमं कार्यम्' अर्थात् हिरण्यगर्भ कृति की यही महान् कृति है कि जिन्होंने वेदों में भी प्रथम योगविद्या अर्थात् पराविद्या का प्रादुर्भाव किया। हिरण्यगर्भ से अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा- इन चार ऋषियों ने समाधि की उच्च-स्तरीय भूमियों में वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया।

शतपथ ब्राह्मण में तथा भास्कारचार्य के निरुक्त में **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा'** व्याख्या की है। अग्नि आदि ऋषि देवकोटि के विद्वान् पुरुष थे; जो वेद-ज्ञान को धारण करने में समर्थ हुए। उन्हीं को ज्ञानरूप ज्योति कहा जाना संगत प्रतीत होता है; जिन पर वेद प्रकट हुए। उनके बाद ब्रह्मा नामक ऋषि चारों वेदों के ज्ञाता हुए। पुराणोक्त ब्रह्मा कौन हैं? इसके समय आदि का निश्चय नहीं है, अतः वह केवल आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है।

ब्रह्मा के पश्चात् नारायण (विष्णु), भर्ग (महादेव जी), वसिष्ठ, मैत्रावरुण, विश्वामित्र, गाथिनः अगस्त्य, मैत्रावरूण, मनु, वैवस्वत आदि ऋषि हुए; जिन्होंने यजुर्वेद आदि के मन्त्रों के अर्थों का साक्षात् किया।[3] ये सभी समाधि आदि योगसाधनों की विधि भली प्रकार जानते थे; क्योंकि वेदार्थ को जानने की प्रक्रिया यही है। जैसा महर्षि दयानन्द ने माना है कि 'धर्मात्मा, योगी, महर्षि लोग जब-जब जिस-जिस के अर्थ

1. अद्भुत रामायण 5/6 6
2. श्रीमद्भागवत 5/19/13
3. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० 192

को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों का ज्ञान दिया।[1] वही उन मन्त्रों के ऋषि कहलाए।

इन ऋषियों का कालक्रम पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं होता, अतः वह अन्वेषणीय है। इस ऋषि-परम्परा के अतिरिक्त मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मविद्या अर्थात् योगविद्या की शिष्य परम्परा का प्रारम्भिक महत्वपूर्ण संकेत इस प्रकार मिलता है : 'देवों में मुख्य देव सर्वप्रथम ब्रह्मा हुए; जो सारे जगत् के कर्त्ता और सब लोकों के रक्षक हैं। उन्होंने सब विद्याओं में प्रतिष्ठित प्रधान ब्रह्मविद्या, अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को दिया। अथर्वा ने अंगिरा और अंगिरा ने भारद्वाज-गोत्रीय सत्यवाह को दिया।

वेदों के परिशीलन से यह तथ्य प्रकट होता है कि पातञ्जल योगदर्शन का मूल रूप वेदों में प्रतिपादित है। अथर्ववेदीय मन्त्र में **प्रयुक्त 'अष्टधा', 'अष्टायोगैः'** पदों का अर्थ भाष्यकार क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने पातंजलयोग में निर्दिष्ट यम-नियम आदि अष्ट योगांगों को ग्रहण किया है[2] एवं द्वितीय पद **'षड्योगभिज्ञः'** को द्विजवर्णों के षड्विध कर्मों का परिचायक माना है।[3] अन्यत्र संहिताओं में योगांगों के निश्चित संख्यावाची पदों का प्रयोग नहीं मिलता। योग-विद्या के गूढ़तम रहस्यों को उपमा, वाचकलुप्तोपमालंकार तथा अन्योक्ति के द्वारा उद्घाटित किया गया है।

परवर्तीकाल में योगाभ्यासियों ने योगपद्धतियों का मूल वैदिक संहिताओं में खोजने का यत्न भी किया।[4] उसी सरणी में वेद-विहित योगांगों को महर्षि पतंजलि ने योगशास्त्र में यम, नियम, आसन,

---

1. वैदिक ऋषि एक परिशीलन
2. अष्टधा युक्तो वहति। अथर्ववेद 13/3/11
3. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचकृषुः।
   तेना ते तन्वोदूर पोऽपाचीनमपव्यये।। अथर्ववेद 6/9/1
4. पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टांगसंयुक्तम्। -योगतत्त्वो. 3

प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि[1]- इन अष्टांगों में सन्निविष्ट किया।

वेद सर्व सत्यविद्याओं का अगाध ज्ञान भण्डार है। मानवीय जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान वेद में निहित है'- यह मान्यता सर्वविदित है। सब सत्य विद्याओं में प्रमुखरूपेण ब्रह्मविद्या अध्यात्मविद्या है।

वेदों में वर्णित योगतत्त्वों तथा योगानुष्ठान-विषयक ईश्वराज्ञाओं से स्पष्ट हो जाता है कि वेद से योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ईश्वर यजुर्वेद (अध्याय-ग्यारह, मन्त्र-एक से पाँच) में योगाभ्यास के लिए उपदेश करता है :

प्रथम चार मन्त्रों में उपासना का महत्त्व बताने के पश्चात् परमेश्वर उपासना का उपदेश करने वाले एवं ग्रहण करने वाले दोनों के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि 'जब तुम सनातन ब्रह्म की सत्य, प्रेम, सेवा एवं श्रद्धाभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादिपूर्वक उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद दूँगा कि सत्यकीर्ति तुम दोनों को ऐसे प्राप्त हो; जैसे कि परम विद्वान् को धर्म-मार्ग यथावत् प्राप्त होता है।' पुनः परमेश्वर मुमुक्षुजनों को उपदेश करता है कि हे मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाले मनुष्यों! तुम सब लोग ध्यान देकर सुनो कि जिन दिव्य लोकों अर्थात् मोक्षसुखों को पूर्वज लोग प्राप्त हो चुके हैं उसी उपासना-योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त करो, इसमें सन्देह न करो। इसीलिए मैं तुम्हें उपासना-योग से युक्त करता हूँ।

सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा- इन चार ऋषियों को परमात्मा ने वेदज्ञान प्रदान किया। साथ ही योगविद्या का भी वर्णन किया। उन ऋषियों ने भी वैदिक मन्त्रों के दर्शन से पूर्व योग-साधना अवश्य की होगी। इसलिए वेदों में कई जगह पर योग की चर्चा की गई है। वेद विश्व के ज्ञान-विज्ञान के भंडार हैं। वेदों का मुख्य

---

1. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। योगदर्शन 2/29

प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मिक उन्नति करना है। इसके लिए यज्ञ, उपासना, पूजा व अन्य कर्मकाण्डों का वर्णन किया गया है। इन सबसे पूर्व योग साधना का विधान किया गया है। इसी सन्दर्भ में ऋग्वेद में कहा गया है :

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥[1]

अर्थात् विद्वानों का कोई भी कर्म बिना योग के पूर्ण (सिद्ध) नहीं होता। इस बात से ही सिद्ध होता है कि वेदों में योगविद्या को कितना महत्त्व दिया गया है। जिन (इन्द्र-अग्नि) देवता के बिना प्रकाश पूर्ण ज्ञानी का जीवनयज्ञ भी सफल नहीं होता, उसी में ज्ञानियों को अपनी बुद्धियों और कर्मों का योग करना चाहिए। उसी देव में उन्हें अपनी बुद्धियों और कर्मों को अनन्य रूप से एकाग्र करना चाहिए।

वेदों में कहा गया है कि योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त विवेकख्याति (ऋतंभरा-प्रज्ञा) ईश्वर की कृपा से ही होती है। वेद का निम्न निर्दिष्ट मन्त्र इसी भाव को प्रकट करता है :

स धा नो योग आभुवत्स राये स पुरं ध्याम्।
गमनद् वाजेभिरा स नः॥[2]

अर्थात् ईश्वर की कृपा से हमें योग (समाधि) सिद्ध होकर विवेकख्याति तथा ऋतंभरा-प्रज्ञा प्राप्त हो और वही ईश्वर अणिमा आदि सिद्धियों सहित हमारे पास आवे। इसी कारण योगसिद्धि के लिए वेद में प्रार्थना करते हुए कहा गया है :

योगे-योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्र मूतये॥[3]

---

1. ऋग्वेद 1/18/7
2. ऋग्वेद 1/5/3, सामवेद 1/2/311
3. अथर्ववेद 19/24/7, शुक्ल यजुर्वेद 1/4

अर्थात् हम सखा (साधक लोक) प्रत्येक योग (समाधि) सिद्ध में तथा हर मुसीबत में परम ऐश्वर्यवान् इन्द्र का आह्वान करते हैं। जब साधक साधना करता है और उसमें विघ्न उत्पन्न होते हैं, तो उन्हें दूर करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है।

वेदों के मन्त्रों से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यापक शक्ति है; जिसका अभेद ज्योति, परमपद, परमव्योम आदि नामों से ऋग्वेद में वर्णन मिलता है। इसी शक्ति से योग प्राप्त करने की कामना की गई है। कर्मवाद का उल्लेख वेदों में प्राप्त होता है। वेदों के अनुसार अच्छे और बुरे कर्मों का उन्हीं के अनुरूप फल भोगना पड़ता है। देवता भी कर्मफल से छुटकारा नहीं पा सकते। वेदों में स्वतन्त्र इच्छाशक्ति एक मान्यता के रूप में है। मुक्ति का उल्लेख भी वेदों में प्राप्त होता है; जो योग का परम लक्ष्य है।

वेदों में योग को सब कर्मों के अर्थात् यज्ञादि के पूर्व करने वाला साधन माना गया है। ज्ञानप्राप्ति के साधन के रूप में इन्द्रियों के कार्यो का विवेचन तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विवेचन भी वेदों में प्राप्त होता है। वेदों में हठयोग के अंगों का वर्णन भी प्राप्त होता है :

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।[1]

अर्थात् आठ चक्रों एवं नवद्वारों से युक्त हमारी यह देहपुरी एक अपराजेय देव नगरी है। इसमें हिरण्यमय कोश है; जो ज्योति और आनन्द से परिपूर्ण है। वेदों में शरीरस्थ नाड़ियों और प्राण आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में प्राण की महत्ता को बताने वाले अनेक मन्त्र मिलते हैं। इसे इन्द्रियों का रक्षक बताया गया है। वेदों में मन्त्रयोग लययोग आदि का भी वर्णन प्राप्त होता है :

क्व त्रिचक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व त्रयो बन्धुरो ये सनीलाः।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्यो पयाथः।।[2]

1. अथर्ववेद 10/2/31
2. ऋग्वेद 1/34/9

अर्थात् अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु, आकाश- इन भूतों से बना यह शरीररूपी रथ है। इस शरीररूपी रथ के मध्य के नीचे तीन चक्र हैं। जिनके मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर- ये नाम हैं। वे कहाँ हैं? उनका स्थान विशेष कौन सा है? यह हमें ज्ञात नहीं है। जीवधारक बन्धु जीवन पुष्प के समान नितान्त रक्तवर्ण कंदर्प नामक वायु कहाँ है? अर्थात् उसके निवास स्थान के ज्ञान से भी हम वंचित हैं। शिवस्थान सहस्रदल कमल सहित ऊपर के तीन चक्र; जिनमें अनाहत, विशुद्धि और वह ज्ञात नहीं है। सर्वशक्ति सम्पन्न आनन्द धन, स्वप्रकाश शिव परमात्मा; जो शिव-शक्ति संगमरूप रासलीला से शोभित होते हैं; उनका आधार पद्म स्थित कुल-कुण्डलिनी का लय किस समय होता है- इसका भी हमें ज्ञान नहीं है। हे अविनाशी! शिव शक्ति परमपिता! आपकी कृपा से लययोग संबंधी ये समस्त बातें मुझे ज्ञात हों। और इन्हें जानकर मैं लययोग का अभ्यास करूँ। वैदिक योगसाधना का ध्येय है- आत्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य। उसके लिए साधक की अभीप्सा निम्नलिखित मन्त्र में सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है :

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घास्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः।[1]

अर्थात् हे अग्नि देव! यदि मैं तू अर्थात् सर्वसमृद्धिसम्पन्न हो जाऊँ या तू मैं हो जाएँ, जो मेरे लिए तेरे सभी आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जाए। अथर्ववेद के एक मन्त्र में राजयोग की प्राणायाम प्रणाली से होने वाले शक्ति के आरोहण का वर्णन प्रतीकात्मक भाषा में किया गया है-

पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षं मारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥[2]

इस मन्त्र में पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौः क्रमशः अप्राण और मन की भूमिकाओं के प्रतीक है। और स्वर्ज्योति मन से परे स्थित, वाङ्मनस-अगोचर विज्ञानमय भूमिका का प्रतीक है। प्राणायाम से

1. ऋग्वेद 8/44/23
2. यजुर्वेद 17/67

सिद्धिप्राप्त साधक कहता है कि मैंने पृथ्वी के तले से अन्तरिक्ष में आरोहण किया। अन्तरिक्ष से द्युलोक में और आनन्दमय द्युलोक के स्तर से आरोहण करके मैं स्वर्गलोक के ज्योतिर्मय धाम में पहुँच गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि योगविद्या का वेदों में विराट् वर्णन प्राप्त होता है। वेद पूर्ण पुरुष जगदीश्वर की कृति हैं। उनमें आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक-तीनों प्रकार के भाव हैं; अर्थात् ये सभी विद्याएँ वेदों में हैं। कार्यकारण के अनुरूप ही होता है।

इस प्रकार वेदों में मानवीय जीवन के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ नि:श्रेयस की प्राप्ति कराने वाली योगविद्या का उपदेश जगह-जगह उपलब्ध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेद में वर्णित योगविषय का वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेद से योग के इसी सम्बन्ध को स्वत: वेदमन्त्रों द्वारा प्रमाणित कर पातंजलयोग से मिलाने का इस ग्रन्थ में प्रयास है।

अत: जब वेदों के रचयिता परमात्मा में ब्रह्म, ईश तथा विराट् ये तीनों भाव हैं; तो प्रभु की कृति वेद में भी ये भाव अवश्य ही होंगे। और वेदों का कारण भाव; जो योग सिद्धियों के पश्चात् ही हुआ; क्योंकि योग के द्वारा चित्त को एकाग्र करने के पश्चात् ही मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों का साक्षात्कार कर उनका वर्णन किया। इसलिए वेदों में योग का जगह-जगह वर्णन प्राप्त होता है।

उपनिषदों में योग का स्वरूप

'उपनिषद्' शब्द का शाब्दिक अर्थ व अभिप्राय :-

'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु के साथ 'क्विप्' प्रत्यय लगाने से 'उपनिषद्' शब्द बनता है।

अमरकोष षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु धातु से 'उपनिषद्' शब्द बनता है। जैसे- 'सद्' धातु के तीन अर्थ हैं : विशरण (विनाश), गति (ज्ञान प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना); अर्थात् जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती है, वह उपनिषद् है।

जो संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है। अर्थात् व्यवधान रहित सम्पूर्ण ज्ञान उपनिषद् कहलाता है तथा गुरु से नीचे और गुरु के समीप व्यवधानरहित बैठकर सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करना उपनिषद् कहलाता है। उपनिषद् को पराविद्या भी कहते हैं, जबकि संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक : को अपराविद्या कहते हैं। **'धर्मे रहस्योपनिषत् स्यात्'** धर्म के गूढ रहस्य को जो बताता है या प्रतिपादन करता है, वह उपनिषद् है। प्राणियों के परम पुरुषार्थ को प्रकाशित करने वाली परमार्थ को दिखलाने वाली तथा परम उपकारिणी विद्या उपनिषद् है।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय

विश्व के कारण तत्त्व का विचार उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड में किया गया है। अतएव उपनिषद् को वेद का ज्ञानकाण्ड भी कहा जा सकता है। उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय ज्ञान है; जिसके आधार पर उसे ज्ञान नाम से सम्बोधित किया जाता है। वेदों का सिद्धान्त उपनिषदों में ही वर्णित है। इस आधार पर उपनिषद् का एक नाम वेदान्त है; क्योंकि यह वेद चार भागों (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद) के रूप में पाया जाता है। यह वेदों का अंतिम भाग भी है, इसलिए इसको वेदांत भी कहते हैं।

उपनिषदों की संख्या

आजकल 220 उपनिषद् प्राप्त है। सब उपनिषदों में 108 उपनिषद् प्रमुख हैं। मुक्तिकोपनिषद् में उपलब्ध उपनिषदों की एक सूची दी गई है। उसके अनुसार उपनिषद् 108 हैं, जिसमें ऋग्वेद की 10, शुक्ल यजुर्वेद की 19, कृष्ण यजुर्वेद की 32, सामवेद की 16 तथा अथर्ववेद की 31 उपनिषद् हैं।

मुक्तिकोपनिषद् के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि उपनिषदों की संख्या इससे भी कहीं अधिक है। 108 उपनिषदों में भी 11 उपनिषद् प्रमुख हैं : 1. ईशोपनिषद्, 2 केनोपनिषद, 3. कठोपनिषद्,

4. मुण्डकोपनिषद्, 5. माण्डूक्योपनिषद्, 6. तैत्तिरीयोपनिषद् 7. ऐतरेयोपनिषद्, 8. श्वेताश्वतरोपनिषद, 9. प्रश्नोपनिषद्, 10. छान्दोग्य, 11. बृहदारण्यक। ये उपनिषद् विषय-प्रतिपादन की प्राचीनता के विचार से नितान्त ही प्रामाणिक माने जाते हैं। ऋग्वेदीय उपनिषदों में ऐतरेय तथा कौषीतकि, सामवेदीय उपनिषदों में छान्दोग्योपनिषद् तथा कठोपनिषद्, कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदों में श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा मैत्रायणी उपनिषद्, शुक्ल यजुर्वेद में ईशावास्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद्, अथर्ववेदीय उपनिषदों में मुण्डकोपनिषद् तथा प्रश्नोपनिषद् नितान्त प्रसिद्ध, प्राचीन तथा प्रमाणिक स्वीकार किए गए हैं। शंकराचार्य ने इन्हीं उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है। इन उपनिषदों में योग-प्रक्रिया तथा योगांगों का विस्तार से वर्णन है। अनुक्रम की दृष्टि से बृहदारण्यक और छान्दोग्य, ईश और केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय और कौषीतकी और कठ, मुण्डक एवं श्वेताश्वतर तथा प्रश्न, मैत्रीय और माण्डूक्य का क्रम उचित प्रतीत होता है।

उपनिषद्काल में योग का सर्वांगीण विकास एवं संवर्धन हुआ है। कुछ उपनिषद् ऐसे भी हैं; जो मात्र यौगिक विषय का ही व्याख्यान करती हैं। ऐसे 20 उपनिषदों का प्रकाशन 'अड्यार' से हुआ है :

1. अद्वयतारकोपनिषद्, 2. अमृतनादोपनिषद्, 3. अमृबिन्दूपनिषद्, 4. क्षुरिकोपनिषद्, 5. तेजोबिन्दूपनिषद्, 6. त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्, 7. दर्शनोपनिषद्, 8. ध्यानबिन्दूपनिषद्, 9. नादबिन्दूपनिषद्, 10. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्, 11. ब्रह्मविद्योपनिषद्, 12. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, 13. महावाक्योपनिषद्, 14. योगकुण्डल्युपनिषद्, 15. योगचूड़ामण्युपनिषद्, 16. योगतत्वोपनिषद्, 17. योगाशिखोपनिषद्, 18. वाराहोपनिषद्, 19. शाण्डिल्योपनिषद्, 20. हंसोपनिषद्। इसके अतिरिक्त एक अन्य उपनिषद् योगराजोपनिषद् भी है।

1. अद्वयतारकोपनिषद्- इसमें लक्ष्यत्रय के अनुसन्धान द्वारा 'तारकयोग' का साधन कहा गया है।

2. अमृतनादोपनिषद्- इसमें मन को ही 'बन्धु' एवं मनोविरोध को 'मोक्ष' का कारण बताया गया है तथा शब्दब्रह्म के ध्यान से ही परब्रह्म की प्राप्ति की पुष्टि भी की गई है। इसमें 'षडङ्ग योग' निरूपित

है। इसमें प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि- इन छह अंगों की गणना की गई है। आगम से अविरुद्ध अनुमान को तर्क कहा गया है।

3. **अमृतबिन्दूपनिषद्**- इसमें भी मनोनिरोध को बन्ध एवं मोक्ष का कारण बताते हुए, मनोनिरोध के कारण ज्ञानस्वरूप, ध्यान के प्रकार आदि वर्णित हैं।

4. **क्षुरिकोपनिषद्**- इसमें आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि एवं समाधि के फल आदि विषय कथित हैं।

5. **तेजोबिन्दूपनिषद्**- इसके प्रथम अध्याय में परब्रह्म का स्वरूप विवेचित है। इसमें योग के ये पन्द्रह अंग निर्दिष्ट हैं : यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक् स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान तथा समाधि। इस उपनिषद् में यम आदि का स्वरूप भी भिन्न रूप से विवेचित है। 'जीवन्मुक्ति' एवं 'विदेहमुक्ति' आदि विषय का भी यहाँ निरूपण किया गया है।

6. **त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्**- इसमें ज्ञान योग एवं कर्मयोग का परिचय देते हुए अष्टाङ्गयोग निरूपित किया गया है। इसके अनुसार; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार- ये दस यम तथा नियम-तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, हरि-आराधन, वेदान्तश्रवण, मति, जप, व्रत- ये दस नियम हैं। यहाँ स्वस्तिकादि 17 आसनों का उल्लेख हैं एवं नाड़ी, चक्र, कुण्डलिनी प्राणायामादि का भी विशद वर्णन है।

7. **दर्शनोपनिषद्**- इसमें भी अष्टांगयोग का विवेचन है; जिसमें पूर्वोक्त दस यम-नियम उल्लिखित हैं तथा कुण्डलिस्थान नाड़ी, चक्रशुद्धि, मुद्रा आदि यौगिक क्रियाओं का भी विशद सन्निवेश है।

8. **ध्यानबिन्दूपनिषद्**- इसमें प्रणवध्यान, त्रिमूर्तिध्यान, मूलाधारादि चक्र, नाड़ी, चक्र, मुद्रा, वज्रोलि सिद्धि आदि तत्त्व उल्लिखित हैं। कुण्डलिनी बोधन एवं नादानुसन्धान द्वारा आत्मावबोधन का उपदेश है।

9. नादबिन्दूपनिषद्- जैसा कि इसके नाम से ही सुस्पष्ट है; इसमें नादानुसन्धान का विस्तृत वर्णन है।

10. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्- इसमें ज्ञानयोग का प्रतिपादन करते हुए परमात्मा की हंसत्वेन भावना का उपदेश दिया गया है।

11. ब्रह्मविद्योपनिषद्- इसमें प्रणवनाद के लय से ब्रह्म की प्राप्ति अपेक्षित है। सकल ब्रह्म (प्रकृति) तथा सकल निष्फल (जीव) रूप ब्रह्मत्रय का वर्णन है एवं परमात्मा में एकात्मतापूर्वक ध्यान करने से मोक्ष प्राप्ति का निर्देश है।

12. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्- इसमें अष्टाङ्गयोग, मुद्रासिद्धि, प्रणवोपासना, उन्मनी अवस्था द्वारा 'अमनस्का सिद्धि' आदि का वर्णन है।

13. महावाक्योपनिषद्- इसमें 'हंसविद्या' के अभ्यास द्वारा परमात्मतत्त्व की प्राप्ति निदर्शित की गई है।

14. योगकुण्डल्युपनिषद्- इसमें प्राणायाम के विभिन्न प्रकार तथा अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। तथा विभिन्न प्रकार के बन्ध एवं कुण्डलिनी उद्बोधन की प्रक्रिया वर्णित है।

15. योगचूडामण्युपनिषद्- इसमें प्राणायाम, मुद्रा, प्रणव, जप, स्वाधिष्ठानादि चक्र, नाड़ी आदि तत्त्व विवेचित हैं।

16. योगतत्त्वोपनिषद्- इसमें 1. मन्त्रयोग, 2. लययोग, 3. हठयोग एवं 4. राजयोग। इस प्रकार योग के चार भेद निरूपित हैं।

17. योगशिखोपनिषद्- इसमें भी कुण्डलिनी चालन द्वारा ग्रन्थित्रय का भेदन कर नादानुसन्धान, जप, विभिन्न प्रकार के कुम्भक बन्ध आदि का अभ्यास एवं राजयोग, लययोग, हठयोगादि चार योगों का उल्लेख है।

18. वराहोपनिषद्- इसमें ने नादानुसन्धान को समाधि का प्रमुख साधन बताया गया है।

19. हंसोपनिषद्- इसमें गौतम एवं सनत्कुमार के परिसंवाद द्वारा मोक्षसाधक 'हंसविद्या' का निरूपण किया गया है। अष्टदकमल में हंस की भावना से सूर्यात्मदर्शन अजपाजप द्वारा दश नादों का अनुभव एवं मन के पूर्ण लय से आत्मतत्त्व के प्रकाशन का वर्णन है।

20. शाण्डिल्योपनिषद्- इसमें निष्कल ब्रह्म (शुद्धात्मतत्व) का प्रतिपादन है।

इसके अतिरिक्त 'अड्यार लाइब्रेरी' से 17 उपनिषदों का अन्य संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। उनमें भी यौगिक विषयों का ही समावेश है। ये उपनिषदें जैनाचार के अधिक समीप हैं :

1. अवधूतोपनिषद्, 2. आरण्युपनिषद्, 3. कठरुद्रोपनिषद्, 4. कुण्डिकोपनिषद् 5. जाबालोपनिषद्, 6. तुरीयातीतावधूतोपनिषद्, 7. नारदपारिव्राजकोपनिषद्, 8. निर्वाणोपनिषद्, 9. परिब्रह्मोपनिषद्, 10. परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्, 11. परमहंसोपनिषद्, 12. ब्रह्मोपनिषद्, 13. भिक्षुकोपनिषद्, 14. मैत्रेयुपनिषद्, 15. याज्ञवल्क्योपनिषद्, 16. शाट्यायनीयोपनिषद्, 17. संन्यासोपनिषद्।

इन सभी में चित्त, चक्र, नाड़ी, कुण्डलिनी, इन्द्रियों आदि यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, ब्रह्मध्यान योग, प्रणवोपासना, ज्ञान योग तथा चित्त की अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है।

उपनिषदों में योग की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। योगशिखोपनिषद् में योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है-

'योऽपानप्राणयोरैक्यं स्थरजो रेतसोस्तया।
सूर्य चन्द्रमसोर्योगाद् जीवात्मपरत्मात्मनोः॥
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते॥[1]

अर्थात् प्राण और अपान की एकता सत्त्वरजोरूपी कुण्डलिनी की शक्ति और स्वरेतरूपी आत्मतत्त्व का मिलन, सूर्य, स्वर व चन्द्रस्वर का

1. योगशिखोपनिषद्

मिलन एवं जीवात्मा व परमात्मा का मिलन योग है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में योग की परिभाषा है :

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो ही प्रभवाप्ययौ॥[1]

अर्थात् जब पाँचों इन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, उस स्थिति को परमगति कहते हैं। इन्द्रियों की स्थिर धारणा योग की अवस्था है। इस स्थिति को प्राप्त हुआ योगी प्रमादरहित हो जाता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि :

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥[2]

अर्थात् योगाभ्यास के लिए समतल, शुचि, कंकर-पत्थर-रहित, आग व बालू से रहित या शब्द जलादि का जहाँ व्यवधान न हो, मन को प्रिय लगने वाला स्थान हो, जहाँ आंखों को पीड़ा देने वाली कोई वस्तु नहीं हो- ऐसा स्थान ही योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान होता है; क्योंकि ऐसे स्थान में योगाभ्यास करने से मन तीव्रता से स्थिर होता है। ऐसे स्थान पर योगसिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है।

अमृतनादोपनिषद् में योग के अंगों का वर्णन करते हुए कहा गया है :

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥[3]

---

1. कठोपनिषद् 2/3/10-11
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/10
3. अमृतनादोपनिषद्

अर्थात् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, प्राणायाम, तर्क और समाधि- यह षडङ्ग योग कहलाता है। अन्य एक उपनिषद् में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि- योग के छः अंग बताए गए हैं। इसके अतिरिक्त अष्टांगयोग का भी उपनिषदों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

योगशिखोपनिषद् में योग की विभिन्न पद्धतियों का वर्णन करते हुए कहा गया है :

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिका क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।।[1]

अर्थात् मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग- ये चारों जो यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग हैं; जिसे महायोग कहते हैं।

उपनिषदों में मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान के साथ-साथ योग को भी आवश्यक माना गया है। योगतत्त्वोपनिषद् में कहा गया है :

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।।[2]

अर्थात् योग के बिना ज्ञान ध्रुव मोक्ष का देने वाला भला कैसे हो सकता है। उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्म में असमर्थ है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान और योग-दोनों का साथ-साथ होना आवश्यक है; क्योंकि योग के बिना शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती है। और ज्ञान के बिना योगसाधनों का भी कोई महत्त्व नहीं है।

उपनिषदों में इनके साथ-साथ शरीरस्थ नाड़ियों, वायु प्राण और मन सभी का वर्णन प्राप्त होता है। उपनिषदों में आत्मा के आवरण के रूप में पंचकोषों को बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि योग के सभी अंगों का उपनिषदों में विस्तृत वर्णन किया

---

1. योगशिखोपनिषद्
2. योगतत्त्वोपनिषद्

गया है। योग को उपनिषदों में मनुष्य जीवन हेतु बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

योग के महत्त्व को दर्शाते हुए कठोपनिषद् में कहा गया है :

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम्।
अप्रमतस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।[1]

अर्थात् इन्द्रियों की स्थिर धारणा अर्थात् उनके संयम को भी योग कहते हैं। इसके साधन को करने वाला साधक प्रमादरहित हो जाता है और उसमें शुभ संस्कारों का उदय होने लगता है।

योग के फल को बताते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद् कहती है :

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं, वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।।[2]

अर्थात् योगसिद्ध हो जाने पर शरीर हल्का हो जाता है, शरीर निरोग हो जाता है। अलोलुपता प्राप्त होती है; अर्थात् सभी विषयों के प्रति राग नहीं रहता। नेत्रों को आकर्षित करने वाली शरीर की कान्ति की प्राप्ति हो जाती है। उसका स्वर मधुर हो जाता है, शरीर से दिव्य गन्ध आती है। शरीर में मलमूत्र की कमी होती है। वहीं पुनः कहा गया है :

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः। प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।[3]

अर्थात् योग की अग्नि से बना हुआ शरीर जिसे प्राप्त होता है, उसे कोई रोग नहीं होता है, न उसको बुढ़ापा आता है और मृत्यु भी नहीं होती है अर्थात् मृत्युञ्जयी हो जाता है। उपनिषदों का पूर्णतया अध्ययन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि बिना यौगिक साधनों के सामाजिक एवं पारमार्थिक प्रवृति अधूरी ही रहती हैं। समग्र उपनिषदों में किसी-न-किसी योग का वर्णन किया गया है।

---

1. कठोपनिषद् 2/3/11
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/13
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/12

उपनिषदों में साधनरूप के जो अनेक सिद्धान्त हैं, उन्हें किसी न किसी रूप में योग कहा जा सकता है। जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग, क्रियायोग, ध्यानयोग, समाधियोग आदि। योगमार्ग ही भगवत्प्राप्ति का एक मार्ग है; क्योंकि यौगिक प्रक्रियाओं के अनुसार मन का निरोध ही सम्भव है। सभी प्रकार के साधनों में मन का निरोध निषेध है।

अत: उपनिषदों का मुख्य तात्पर्य योगानुष्ठानपूर्वक, मोक्षप्राप्ति से ही है। ऐसा कोई भी मोक्ष मार्ग नहीं है; जिसमें योगांगों की आवश्यकता न पड़ती हो। इसलिए उपनिषदों ने योग को मुख्यरूप से निरूपित किया। जिस प्रकार दूध में घृत समाया हुआ है, उसी प्रकार उपनिषदों में योगविद्या समाहित है। कहा जा सकता है कि उपनिषद् ग्रन्थों का रचना-काल आधुनिक गणितज्ञों के गणित से भी अतिप्राचीन सिद्ध होता है।

गीता में योग का स्वरूप

श्रीमद्भगवद्गीता का सामान्य का परिचय

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का अंश है तथा हिन्दुओं के पवित्रतम ग्रन्थों में से एक है। इसमें भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र युद्ध में अर्जुन को दिया गया दिव्य उपदेश है। यह गीता वेदान्तदर्शन का सार है। गीता का सन्देश महाभारत के भीष्मपर्व में दिया गया उपदेश है। महाभारत में भीष्मपर्व के 25 से 42 अध्याय के अन्तर्गत भगवद्गीता आती है। फिर शान्तिपर्व और अश्वमेधपर्व में भी गीता के कुछ प्रसंग उल्लिखित हैं। भगवद्गीता में एकेश्वरवाद की चर्चा है। इसमें अट्ठारह अध्याय हैं; जिनको तीन भागों में बाँटा गया है। प्रथम भाग में कर्मयोग 1-6 अध्याय है, द्वितीय भाग में भक्तियोग 7-12 अध्याय है तथा तृतीय भाग में ज्ञानयोग 13-18 अध्याय है। गीता के कुल 700 श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने 574, अर्जुन ने 74, संजय ने 41 और धृतराष्ट्र ने 1 श्लोक कहे हैं। महाभारत में वर्तमान कलियुग तक की घटनाओं का विवरण मिलता है। आज से लगभग 5500 वर्ष पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने

मित्र तथा भक्त अर्जुन को यह गीता सुनाई थी।

गीता में 'योग' शब्द का अर्थ विभिन्न अर्थों के लिए हुआ है :

1. **'युजिर् योगे'** धातु से बना 'योग' शब्द का अर्थ समरूप परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध से है। यथा **"समत्वं योग उच्यते।"**[1]
2. **'युज समाधौ'** धातु से बना 'योग' शब्द का अर्थ चित्त की स्थिरता अर्थात् समाधि की स्थिति से है। यथा **"यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।"**[2]
3. **'युज संयमने'** धातु से बना 'योग' शब्द का अर्थ 'सामर्थ्य' प्रभाव से है। यथा- **"पश्य मे योगमैश्वरम्"**[3]

गीता का योग विलक्षण है। पातञ्जल योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।[4] योग के परिणामस्वरूप जब वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति होती है। तात्पर्य यह है कि तब द्रष्टा की शुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थिति होती है : **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**[5] पातंजल योगदर्शन में योग का जो परिणाम बताया गया है, उसी को गीता में योग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि गीता के अनुसार चित्तवृत्तियों से सर्वथा सम्बंधविच्छेदपूर्वक स्वतः सिद्ध सम-स्वरूप में स्वाभाविक स्थिति को योग कहते हैं :

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[6]

गीता में योग की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं। द्वितीय अध्याय के 48वें श्लोक में योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है : **'योगस्थ**

---

1. गीता, 2/48
2. गीता, 6/20
3. गीता, 11/8
4. पातंजल योग, 1/2
5. पातंजल योग, 1/3
6. गीता 2/48

कुरुकर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।' अर्थात्- हे अर्जुन तू कर्मफलों की आसक्ति त्यागकर समबुद्धि होकर कर्म कर; क्योंकि जिसका भूतों में समान भाव, सिद्धि और असिद्धि में जिसकी बुद्धि समान रहती है, वही योग की अवस्था है। योग साधक का चित्त सुख-दु:ख में लाभ-हानि में, जय-पराजय में, शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि सभी द्वन्द्वों में समान बना रहता है। बुद्धि का यह समभाव ही योग है।

वास्तविक ज्ञान वही होता है; जो ज्ञान मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसरित कराता है। क्योंकि कहा भी गया है : **सा विद्या या विमुक्तये।** अत: गीता में भी मुक्तिप्रदायक ज्ञान है। इस बात की पुष्टि स्वयं व्यासजी ने महाभारत के शान्तिपर्व में प्रकट की है : **'विद्या योगेन रक्षति'** अर्थात् ज्ञान की रक्षा योग से होती है। गीता को यदि योग का मुख्य ग्रन्थ कहा जाये, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। योग के आदि प्रवक्ता स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् है, इसलिए उन्हें योगेश्वर भी कहा गया है।

गीता का बार-बार पाठ, अध्ययन और मनन करने से; या यों कहें कि गीता में नित्य-नित्य गहरा गोता लगाने से उसके दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्योतिर्मय रत्नों से भरे महासिन्धु में गोता लगाने वाला प्रत्येक डुबकी पर कुछ-न-कुछ पाता है। गीता का अध्ययन करते-करते हमें यह बोध होता है कि यह प्राचीन परम्परागत ज्ञान का आधार है। श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से कहा है :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥1॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदु:।
स कालेनेह महता योगो नष्ट: परन्तप॥2॥

स एवायं मया तेऽद्य योग: प्रोक्त: पुरातन:।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥3॥

हे प्रिय पार्थ! आदिकाल में मैंने इस अव्यय, शाश्वत या सनातन योग को सबसे पहले सूर्य को दिया। सूर्य ने अपने पुत्र विवस्वान् के प्रति

कहा था। विवस्वान् ने मनु को और मनु ने अपने बड़े पुत्र इक्ष्वाकु को गीता के योग की दीक्षा दी। हे परंतप! मेरा यह योग एक-दूसरे को मिलता रहा और इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना। जब कभी इसका लोप हुआ, तो मैंने किसी-न-किसी के माध्यम से युगों-युगों में पुनः पुनः- इस योग को प्रकट एवं स्थापित किया। हे प्रिय परंतप! तुम मेरे सखा हो, मुझे अतिप्रिय हो, अतः वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है।

गीता के प्रत्येक अध्याय को योग की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार अट्ठारह अध्यायों को क्रमशः निम्न योगों से अभिहित किया गया है :

1. अर्जुनविषाद योग, 2. सांख्ययोग, 3. कर्मयोग, 4. ब्रह्मयोग, (ज्ञानकर्मसंन्यासयोग), 5. कर्मसंन्यास योग, 6. आत्मसंयम योग, 7. ज्ञानविज्ञान योग, 8. अक्षरब्रह्म योग, 9. राजविद्याराजगुह्य योग, 10. विभूतियोग, 11. विश्वरूपदर्शन योग, 12. भक्तियोग, 13 . क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योग, 14. गुणत्रयविभाग योग, 15. पुरुषोत्तम योग, 16. दैवासुरसम्पद्-विभाग योग, 17. श्रद्धात्रय-विभाग योग एवं 18. मोक्षसंन्यास योग।

यदि इन सबका विश्लेषण किया जाए, तो प्रत्येक छः-छः अध्यायों में उपदेश दिया है। प्रत्येक अध्यायों में भगवान् श्रीकृष्ण ने कुछ विशिष्ट एवं गूढ सिद्धान्तों की मीमांसा की है; जिन्हें समझने के लिए योग को पूर्णतः व्यवहार में लाना अत्यन्त आवश्यक है। यही ज्ञानयोग है।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोग के माध्यम से गीता उपदेश देती है कि यह समस्त दृश्य जगत् परमात्मा से ही उत्पन्न होता है और अन्त में परमात्मा में ही लीन हो जाता है। अर्थात् ऐसा समझना चाहिए कि सम्पूर्ण भूत प्रकृति से उत्पन्न हैं और सम्पूर्ण जगत् का उद्भव एवं प्रलय का मूल कारण परमात्मा ही है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।[1]

अब यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ज्ञानयोग का विषय क्या होना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वह समग्र ज्ञान; जिससे जीव परमपद मोक्ष को प्राप्त कर सके। इसलिए मनुष्य को आत्मा, प्रकृति एवं ईश्वर को जानना आवश्यक है; जिसे जानकर मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। गीता के सातवें अध्याय में दो प्रकार की प्रकृति (अपरा और परा) के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन बुद्धि और अहंकार- यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी जो प्रकृति है, वह अपरा (जड) प्रकृति है तथा दूसरी परा प्रकृति; जिससे यह संपूर्ण जगत धारण किया जाता है, वह मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति है।

आत्मा के स्वरूप का निरूपण गीता के दूसरे अध्याय में किया गया है। आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि यह आत्मा न तो किसी काल में जन्म लेती है और न ही मरती है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाली ही है; क्योंकि यह आत्मा अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरानी है। यह शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मरती :

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[2]

इसी अध्याय में आत्मा के अन्य स्वरूपों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह आत्मा अच्छेद्य है। यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल और स्थिर रहने वाली सनातन है :

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।[3]

1. गीता 7/6
2. गीता 2/20
3. गीता 2/24

और यह आत्मा, अव्यक्त, अचिन्त्य तथा विकाररहित है। इसलिए हे अर्जुन! इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर तू शोक करने योग्य नहीं है; अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है। इस प्रकार यह आत्मा ऐसी है- यह जानकर इस विषय में शोक करना योग्य नहीं है। आत्मा सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है। योग का आचरण करने वाला शुद्धात्मा जिसने अपने आत्मा और इन्द्रियों पर विजय पा ली है; ऐसा श्रेष्ठ पुरुष कर्म करता हुआ भी कर्म में लिप्त नहीं होता। कर्म का लेप न होने के लिए इसे सर्वात्मभाव की सिद्धि प्राप्त होनी चाहिए :

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।[1]

गीता के आठवें अध्याय में परमदिव्य पुरुष (ईश्वर) के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि ईश्वर सर्वज्ञ है। अतः उससे कुछ भी अज्ञात नहीं है। वह प्राचीन है और प्राचीनकाल से अर्थात् सदा से ही सबका नियन्ता और शासनकर्ता है। वह सब जगत् का एकमात्र सर्वाधिकारी शासक है। वह सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म है और सबका एकमात्र आधार है। उसके अखण्ड अनन्त स्वरूप का चिन्तन करना बहुत कठिन कार्य है। वह स्वयं अत्यन्त तेजस्वी है, इसलिए उसके पास अंधकार नहीं रह सकता।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मेरद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।[2]

इसी दिव्य परमपुरुष का सबको ध्यान करना चाहिए। प्रयाणकाल में भक्तियुक्त होकर भृकुटी में प्राणों को अच्छी प्रकार स्थापित करके निश्चल मन से जो इसका ध्यान करता है, वह उस दिव्य परम श्रेष्ठ पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है :

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।[3]

1. गीता 5/7
2. गीता 8/9
3. गीता 8/10

ऐसे समय ओंकार का जप और परमेश्वर का चिन्तन करता हुआ जो शरीर को त्याग कर जाता है, वह नि:सन्देह परमश्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है। इसी ज्ञानयोग की पुष्टि के लिए गीता कर्मयोग का भी उपदेश देती है; क्योंकि निष्काम भाव से कर्म करने पर ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। तभी उस ज्ञान से परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है।

कर्मयोग

गीता के तीसरे अध्याय में कर्मयोग का वर्णन किया गया है। गीता में कहा है कि मनुष्य में कर्म करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। एक क्षण भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता है :

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥[1]

वह इच्छा से करे, अनिच्छा से करे, स्वभाव से करे अथवा कैसी भी वृत्ति से करे, उससे कर्म तो होना ही है। कुछ भी करो, कर्म छूटता नहीं। मनुष्य स्तब्ध रहा; तो भी उस समय उससे स्तब्ध रहने का कर्म होता है। मनुष्य का शरीर स्तब्ध रखा गया, तो भी उसके मन के व्यापार बन्द नहीं होते। वह मन से मनन करके अनेक कर्म करता रहता है। निद्रा लेने का कर्म होता ही है, तथापि उसमें स्वप्न आने लगे; तो वह स्वप्न देखने का भी कर्म करता है। यह कर्म कैसे रोका जाए? और यह सब न हुआ ऐसा भी क्षणभर के लिए मान लीजिए। परन्तु हर एक प्राणी जीवित रहने का कार्य तो करता ही है। श्वास-प्रश्वास, हृदय की धड़कन, आँखों का खोलना और मूँदना- ये कर्म शरीर के स्वभाव से ही होते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर का जीर्ण होना, रोगी होना, निरोग रहना आदि कर्म होते हैं। अत: मनुष्य का कर्मों को प्रारम्भ न करने का निश्चय और कर्मों के त्याग करने का निश्चय- ये दोनों निश्चय अव्यवहार्य है। कर्म न करना तो एक क्षणमात्र भी संभव नहीं है।

मन से इन्द्रियों का संयम करके अनासक्त भाव से कर्म करने

---

1. गीता 3/5

वाले की प्रशंसा करते हुए कहा है कि हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है :

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥[1]

इसलिए तू शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्म कर; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥[2]

नियत कर्म का आशय दो प्रकार से व्यक्त हो सकता है। एक नियत कर्म वह है, जो धर्मशास्त्र के द्वारा प्रत्येक मनुष्य के लिए निश्चित हो चुका है। शम-दम-तप आदि ब्राह्मण के लिए, शौर्य, युद्ध से अपलायन, दान आदि क्षत्रिय के लिए, कृषि, गौरक्षा, वाणिज्य वैश्य के लिए, और कारीगरी तथा परिचर्यादि कर्म शूद्र के लिए धर्मशास्त्र द्वारा निश्चित किये हुए कर्म है। चार वर्णों में उत्पन्न हुए मनुष्यों के इस प्रकार के चतुर्विध कर्म धर्मशास्त्र द्वारा ऐसे निश्चित है। ये ही कर्म नियत कर्म हैं। अपना वर्ण और अपना आश्रम इनके लिए जो कर्म धर्मशास्त्र से नियत हुआ है, वह उस मनुष्य को सदा करना चाहिए।

दूसरा नियत कर्म का आशय सहज कर्म या स्वकर्म से है। सहज कर्म का अर्थ है : अपने जन्म के साथ जन्मा हुआ कर्म। प्रत्येक मनुष्य के साथ उसका कर्म निश्चित रूप से जन्मता है। इसी प्रकार स्वकर्म का अर्थ अपने भाव अर्थात् जन्म के साथ नियत हुआ कर्म। इन दोनों शब्दों का अर्थ प्रायः एक ही है। गीता में यज्ञार्थ कर्म करने का भी उपदेश दिया गया है। यज्ञ के लिए जो कर्म किये जाते हैं, उन यज्ञ कर्मों से मनुष्य को बंधन नहीं होता। परन्तु दूसरे कर्म जो मनुष्य करता है, उनसे

1. गीता 3/7
2. गीता 3/8

मनुष्य को बन्धन होता है। इस कारण यज्ञ के लिए आसक्ति छोड़कर कर्म कर। अर्थात् यज्ञकर्म से मनुष्य बन्धन से छूटता है और यज्ञरहित अन्य कर्मों से मनुष्य को बन्धन होता है :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।[1]

यहाँ यज्ञ शब्द का केवल होम-हवन अर्थ नहीं है। गीता के चौथे अध्याय में श्लोक संख्या 25 से 32 तक विविध यज्ञ कहे हैं। उनमें ये मुख्य हैं : इन्द्रियसंयमयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ इत्यादि। वेद में सभी श्रेष्ठ कर्मों को यज्ञ कहा है : **यज्ञौ वै श्रेष्ठतमं कर्म।** यज्ञों में होमहवन (अग्निहोत्र) भी एक यज्ञ है। मनुष्य के जीवन-व्यवहार में भी क्षण-क्षण में यज्ञ होते रहते हैं। मनुष्य का बोलना, चलना, खाना, पीना, सोना और जागना-सब यज्ञरूप होना चाहिए।

भगवद्गीता का यही उपदेश प्रारम्भ से अन्त तक स्पष्ट रीति से दीखता है। इस प्रकार से यज्ञकर्म आसक्तिरहित होकर निःस्वार्थ भाव से करना चाहिए। इसलिए तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्त्तव्य कर्म को भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।[2]

भक्तियोग

ज्ञानयोग एवं कर्मयोग के लिए भक्ति का होना भी आवश्यक है; क्योंकि भक्ति के बिना निष्काम कर्म नहीं हो सकता। जब साधक भक्तियोग के माध्यम से अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित कर देता है, तो उसकी सांसारिक पदार्थों में आसक्ति समाप्त हो जाती है। तभी वह

---

1. गीता 3/9
2. गीता 3/19

परमात्मा को प्राप्त कर पाता है। गीता के बारहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर भक्ति (उपासना) करने वाले योगियों की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो परमेश्वर के सगुण रूप में मन लगाकर नित्य परमेश्वर की सगुण भक्ति में तत्पर परमश्रद्धा से ईश्वर की सगुण उपासना करते हैं, वे योगियों में श्रेष्ठ योगी हैं। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के मत से व्यक्तरूप की उपासना करने वाले योगी श्रेष्ठ होते हैं :

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।[1]

श्रेष्ठ योगी होने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं, वे ये हैं :

1. मय्यावेश्य- ईश्वर में मन लगाना।
2. नित्ययुक्तः- ईश्वर से नित्य योग संबंध करना, कुशलता के साथ कर्म करना।
3. परया श्रद्धया उपेतः- श्रद्धा से युक्त होना।

ईश्वर का रूप वही है, जो इस विश्व में दिखाई देता है। विश्व का वही रूप परमात्मा का अखण्ड रूप है। यह रूप अनन्त है, उसमें जो अपनी उपासना के लिए योग्य है, वही लिया जावे और उसमें अपना मन पूर्णता के साथ लगाया जावे, जो कुछ किया जाए, वह अटल श्रद्धा से किया जावे। इस तरह जो भक्ति होती है; वही श्रेष्ठ भक्ति है।

भक्तों के प्रकार

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।[2]

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के सुकर्मी मेरी भक्ति करते हैं। वे हैं : आर्त (दुःखी), जिज्ञासु, अर्थार्थी (प्रत्येक बात में अर्थ देखने वाला) तथा ज्ञानी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।[3]

1. गीता 12/2
2. गीता 7/16
3. गीता 7/17

उन सब में ज्ञानी व्यक्ति, जो सदा ब्रह्म के साथ युक्त रहता है, जो एकभक्ति है, अनन्य-भक्ति वाला है, सबसे विशिष्ट है, सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि मैं इस प्रकार के ज्ञानी भक्त को अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

उदारास्सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितस्स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।[1]

वैसे तो उक्त सभी श्रेष्ठ हैं, परन्तु ज्ञानी को तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ; क्योंकि वह अपनी आत्मा को मेरे साथ युक्त करके (जोड़कर) मुझ में स्थित होकर अति उत्तम गति को पाता है :

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।[2]

अनेक जन्मों के अनन्तर यह अनुभव हो जाने से ज्ञानवान् मुझे पा लेता है। जो कुछ है, सब वासुदेव ही है। ऐसा मानने वाला महात्मा अत्यन्त कठिनता से मिलता है। वासुदेव का अर्थ है : **'सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्'**[3] मैं सब प्राणियों में वास करता हूँ, इसलिये मेरा नाम वासुदेव है।

ईश्वर के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उपासक

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।[4]

अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार प्रेरित हुए-हुए, भिन्न-भिन्न कामनाओं के कारण जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे भिन्न-भिन्न नियमों का आश्रय लेकर (भगवान् के अतिरिक्त) अन्य देवताओं की उपासना करते हैं। (अमुक कामना अमुक नियम के

1. गीता 7/18
2. गीता 7/19
3. शान्ति पर्व 341-40
4. गीता 7/20

अनुसार पूरी होनी चाहिए। इस प्रपंच में पड़कर लोग भगवान् में दिल लगाने के स्थान में कामनाओं को पूर्ण करने वाले देवी-देवताओं की उपासना करने लगते हैं, संसार में भिन्न-भिन्न मतवादों को खड़ा कर देते हैं)

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।[1]

जो-जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस देवता के रूप की पूजा करना चाहता है, मैं देवता के उस-उस रूप में उसकी श्रद्धा को अचल बना देता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।[2]

ऐसा भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता की आराधना करना चाहता है और उससे ही वह अपनी कामनाओं को पा जाता है, परन्तु वास्तव में उन कामनाओं को मैं ही पूर्ण कर रहा होता हूँ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।[3]

परन्तु इन अल्प-बुद्धि वालों को जो फल मिलता है, वह नाशवान् होता है। देवताओं की पूजा करने वाले लोग देवताओं को पाते हैं। किन्तु मेरे भक्त मेरे ही पास पहुँचते हैं।

अज्ञान के कारण ईश्वर के विषय में भ्रम :

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।[4]

बुद्धिहीन लोग मुझ अव्यक्त को (देवताओं के रूप में व्यक्ति हुआ मानने लगते हैं (तभी वे भगवान् की भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप

---

1. गीता 7/21
2. गीता 7/22
3. गीता 7/23
4. गीता 7/24

में, व्यक्ति के रूप में उपासना करते हैं)। मेरे परम अविनाशी और जिसके सम्मुख दूसरा कोई उत्तम नहीं हैं, ऐसे रूप को न जानते हुए (वे ऐसा करते हैं)।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥[1]

मैं अपनी योगमाया में ढके रहने के कारण सबको प्रकट रूप में प्रकाशित नहीं होता। योगमाया से ढके रहने के कारण यह मूढ़ मनुष्य मुझ अज तथा अव्यय को नहीं पहचानता।

निराकार ब्रह्म के स्वरूप का कथन और उसकी उपासना से भगवत्प्राप्ति की बात बतलाते हुए गीता के 12वें अध्याय में कहा है कि जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भली प्रकार से वश में करके मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अकथनीय, स्वरूप और सदा एकरस रहने वाले नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥[2]
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥[3]

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग-इन तीनों को एक साथ सिद्ध करने के लिए साधन के रूप में गीता ध्यानयोग का विस्तृत वर्णन करती है।

ध्यानयोग

चित्त की चंचलता को दूर करने का सबसे उत्तम मार्ग ध्यानयोग है।

---

1. गीता 7/25
2. गीता 12/3
3. गीता 12/4

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।[1]

विवेकरहित अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान (तर्कसंगत बौद्धिक समझ) अधिक श्रेष्ठ है। आचार्योपदेश व शास्त्र से प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा ध्यान (मन की पूर्ण एकाग्रता) की योग्यता अधिक है और ध्यान से भी कर्मफल का त्याग (कर्मफल में अनासक्ति) श्रेष्ठ है। कर्म फलत्याग से तुरंत शांति प्राप्त होती है। ध्यानयोग का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण गीता के छठे अध्याय में कहते है :

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।[2]

एकान्त में स्थित अकेला चित्त और आत्मा को वश में किये हुए कामनाओं से रहित किसी भी प्रकार के दबाव से रहित योगी अपने आप को निरन्तर परमात्मा में लगावे।

वह ध्यान किस स्थान पर किया जाये, इसका वर्णन करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं : पवित्र स्थान में, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछा हुआ हो। यह आसन न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा, ऐसे आसन पर अपने शरीर को स्थिर करते हुए बैठकर साधना करनी चाहिए। आसन पर सिर और गर्दन एक सीध में रखते हुए चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करें।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तम्।।[3]

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।[4]

---

1. गीता 12/12
2. गीता 6/10
3. गीता 6/11
4. गीता 6/12

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।[1]

सीधे बैठकर अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करते हुए ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करने से साधक का मन सहज रूप से एकाग्र हो जाता है।

ध्यानयोग के लिए उपयुक्त आहार-विहार तथा शयनादि नियम और उनके फल का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि हे अर्जुन! योग न तो बहुत खाने वाले को सिद्ध होता है और न तो बहुत कम खाने वाले को होता तथा यह योग न तो ज्यादा सोने वाले का और न सदा जागते रहने वाले का सिद्ध होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।[2]

योगसाधक का आहार-विहार उचित होना चाहिए। उसकी सभी क्रियाएँ यथायोग्य होनी चाहिए। उसका सोना, जागना भी समय पर होना चाहिए; क्योंकि जो साधक इन बातों का पालन करता है। उसके लिए योगमार्ग दुःखनाशक होता है :

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।[3]

ध्यान के प्रकार के बारे में बताते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते हैं :

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।[4]

कुछ लोग स्वयं अपने आप में ध्यानयोग द्वारा अपनी आत्मा को देखते हैं। कोई सांख्ययोग से देखते हैं और कोई कर्मयोग से। शब्दादि विषयों से श्रोत्रादि इन्द्रियों को हटाकर उनका मन में निरोध करके और

1. गीता 6/13
2. गीता 6/16
3. गीता 6/17
4. गीता 13/24

मन को अन्तरात्मा में निरोध करके जो एकाग्रभाव से चिन्तन करता है, उसका नाम ध्यान है। तथा **ध्यायतीव वरः, ध्यायतीव पृथिवी, ध्यायन्तीव पर्वताः॥**[1] इत्यादि उपमा दी जाने के कारण तैलधारा की भाँति निरन्तर अविछिन्न भाव से एकाग्र रहने का नाम ध्यान है। उस ध्यान द्वारा कितने ही योगी लोग आत्मा में (बुद्धि में) आत्मा को (प्रत्यक्चेतन को) आत्मा से ध्यानाभ्यास द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरण से देखते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥[2]

परन्तु जिन्हें उपर्युक्त विकल्पों में से किसी एक के भी द्वारा आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता, वे दूसरों से सुनकर श्रद्धा से परमेश्वर का भजन (स्मरण और हृदयंगम) करते हैं। ऐसे श्रुतिपरायण लोग (श्रवण ही जिनका परम साधन है) मृत्यु को निःसन्देह तर जाते हैं। इन दो श्लोकों में यह बताया गया है कि मुक्ति के चार मार्ग हैं: (1) ध्यान योग (2) सांख्ययोग (3) निष्काम कर्मयोग (फलासक्ति त्याग कर मत्परायण होकर कर्म करना) (4) श्रवण एवं स्मरण। इन चारों मार्गों में से किसी भी एक से मोक्ष संभव है।

ध्यानयोग का फल के बारे में बतलाते हुए गीता में कहा गया है कि वश में किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरन्तर मुझ परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ मुझमें रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठारूप शान्ति को प्राप्त होता है :

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥[3]

यही अन्तिम उच्चतम अवस्था है। ध्यानयोग के अन्तिम स्थिति को प्राप्त हुए पुरुषों के लक्षण के बारे में कहा गया है कि अत्यन्त वश

---

1. उ. 7/6/1
2. गीता 13/25
3. गीता 6/15

में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों से स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है; ऐसा कहा जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में योग का फल बताते हुए कहा है कि जो साधक योग का आचरण करता है, जिसका हृदय शुद्ध है, जिसने अपने आपको जीत लिया है, जिसने अपने इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसकी आत्मा सब भूतों की आत्मा बनी है; वह कर्म करता हुआ भी अलिप्त रहता है :

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि गीता योगशास्त्र ही है। इसके सभी अध्यायों में योग की विस्तृत चर्चा मिलती है। इसमें योगसाधक के लिए विभिन्न योगमार्गों का वर्णन किया गया है; जिसके अनुरूप प्रत्येक मनुष्य कोई एक मार्ग को अपनाकर परमलक्ष्य मोक्ष तक पहुँच सकता है।

महाभारत में योग का स्वरूप

पाँचवे वेद के रूप में स्वीकृत महाभारत भारतीय संस्कृति एवं धर्म का प्रतीक ग्रन्थ है। 18 पर्वों में विभक्त इस महाग्रन्थ के भीष्मपर्व, शान्तिपर्व एवं अनुशासनपर्व में योगसम्बंधी प्रक्रियाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है :

अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान् नियतेन्द्रियः।
शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम्।।[2]

अर्थात् अहिंसक, सत्यवादी, धैर्यवान्, इन्द्रिय-निग्रही एवं सभी प्राणियों को शरण देने वाला व्यक्ति उच्चतम गति को प्राप्त करता है।

योगशास्त्र की भी यह मान्यता है कि सत्यहिंसादि के अनुसरण

---

1. गीता 5/7
2. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 262/10

द्वारा इन्द्रियों के शोधन एवं निरोधपूर्वक सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखते हुए मानसिक विशुद्धता की सिद्धि से परमात्मदर्शनरूप अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है। पुनः कहा गया है :

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता।।
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारस्त्रयोदश।।[1]

अर्थात् सत्य, समता, दम, मत्सरता [आत्मनिर्भर] का अभाव क्षमा, लज्जा, तितिक्षा [सर्दी गर्मी भूख प्यास धन करने की शक्ति], अनसूया [इर्ष्या द्वेषसे रहित] त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता निरन्तर स्थिर रहने वाली वृत्ति तथा अहिंसा आदि सत्य के तेरह रूप हैं। उपर्युक्त अहिंसादि सम सत्य रूप से परमात्मा की प्राप्ति होती है। अतः इन्हें सत्यरूप कहा गया है।

महाभारत में इन्द्रियों को चंचल, अस्थिर तथा अनेक प्रकार के कषायों की जड़ बताते हुए इसे जीतने की बात कही गई है।[2] इसके साथ ही मन को सुदृढ़ बनाने के लिए मनःपूर्वक योगाभ्यास करने की बात कही गयी है।[3] मन को वश में करना कोई सरल काम नहीं है। इसलिए इसमें कहा गया है कि योगी को चाहिए कि वह मन को धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा ही विषयों से विमुख करके[4] चित्त को ध्यान में लगावे।

संयम और योगाभ्यास के द्वारा जब योगी की चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जावें और वह अपने में ही संतुष्ट रहने लगे, तब योगी को चाहिए कि वह राग-द्वेष से मुक्त होकर मन को एकाग्रकर ध्यान योगाभ्यास में सहायता पहुँचाने वाले बारह प्रकार के (यथा देश, कर्म, अनुराग, अर्थ,

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 62/9
2. महाभारत, अनुशासन पर्व, 96/28-30
3. महाभारत, अनुशासन पर्व, 145/1200
4. महाभारत, अनुशासन पर्व, 195/19

उपाय, अपाय, निश्चय, धनुष, आहार, संहार, मन और दर्शन) योग की शरण में जाए।[1]

बारह योग

1. **देशयोग**- एकान्त, निर्जन या गुफा आदि स्थान पर ध्यान लगाने के लिए आसन को देशयोग कहा जाता है।
2. **कर्मयोग**- आहार-विहार, चेष्टा, सोना, जागना आदि नियमानुकूल को कर्मयोग कहा गया है।
3. **अनुरागयोग**- परमात्मा एवं उसकी प्राप्ति के साधनों में तीव्र अनुराग रखना अनुराग योग कहलाता है।
4. **अर्थयोग**- साधना के लिए केवल आवश्यक सामग्री को ही रखना अर्थयोग कहलाता है।
5. **उपाययोग**- ध्यानोपयोगी आसनों में बैठना उपाययोग है।
6. **अपाययोग**- संसार के विषयों और सगे संबंधियों से आसक्ति तथा ममता हटा लेने को अपाययोग कहते हैं।
7. **निश्चययोग**- गुरु एवं वेदशास्त्र के वचनों पर विश्वास रखने का नाम निश्चययोग है।
8. **चाक्षुषयोग**- चक्षु को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करना चाक्षुषयोग है।
9. **आहारयोग**- शुद्ध और सात्त्विक भोजन का नाम आहारयोग है।
10. **संहारयोग**- विषयों की ओर होने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकना संहारयोग है।
11. **मनोयोग**- मन को प्रयास करके नितांत स्थिर करना मनोयोग की श्रेणी में आता है।
12. **दर्शनयोग**- जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि होने के समय महान दुःख और दोषों का वैराग्यपूर्वक दर्शन करना दर्शनयोग है।

---

1. महाभारत अनुशासन पर्व-226/54

योगी के लिए समता और शान्ति की प्राप्ति आवश्यक है। श्रीमद्‌भगवदगीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समत्व अर्थात् समता ही योग है। अत: योगी को समता की शरण में जाना चाहिए; अर्थात् समता को प्राप्त करना चाहिए। समता की प्राप्ति के लिए महाभारत में अहिंसा, क्षमाभाव एवं इन्द्रियनिग्रह आदि के पालन करने अर्थात् तप करने के लिए कहा गया है।

ब्रह्मोपलब्धि योगी का अन्तिम लक्ष्य होता है। जब साधक को जीव और ब्रह्म में भेद अनुभव नहीं होता है; अर्थात् अभेद का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब ही उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। महाभारत में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब योगी योगाभ्यास के द्वारा अपने सभी दोषों को ध्यान के द्वारा नष्ट कर देता है, तब वह परमात्मा के स्वरूप में स्थित होने के योग्य हो जाता है। अर्थात् वह परमात्मा को पा लेता है और तब वह वहाँ से वापस नहीं लौटता है; अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र से सर्वथा मुक्त हो जाता है। परमात्मप्राप्ति की बात को महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास इस प्रकार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि जिसने अपने मन को वश में कर लिया, वह योगी, निश्छल मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा जिसकी उपलब्धि होती है, उस अजन्मा, पुरातन, अजर-अमर, सनातन, नित्यमुक्त, अणु से भी अणु और महान् से भी महान् परमात्मा का आत्मा से अनुभव करता है। इस प्रकार महाभारत में योगसम्बंधी प्रक्रियाओं का विभिन्न रूपों में वर्णन मिलता है।

पुराणों में योग का स्वरूप

कथाओं के माध्यम से यौगिक क्रियाओं का वर्णन विभिन्न पुराणों में देखने को मिलता है। पुराणों का उद्भव/उद्गम प्राचीनकाल से ही माना जाता है; जिसके कई प्रमाण मिलते हैं। जैसे अथर्ववेद में कहा गया है :

ऋक् सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्चित:॥[1]

---

1. अथर्ववेद 11/7/24

अर्थात् ऋक्, यजु, साम और अर्थववेद के साथ ब्रह्मा ने पुराणों का भी अविर्भाव किया।

इसी प्रकार मत्स्यपुराण में भी कहा गया है :

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मण स्मृतम्।
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।।[1]

पुराणों की रचना महर्षि वेदव्यास जी के द्वारा मानी जाती है। पुराणों में कथाप्रसंग प्राप्त होते है कि यहीं से कथा की परम्परा प्रचलित हो गई। इन पौराणिक कथावाचकों को गुजरात तथा महाराष्ट्र में "पुराणी" तथा उत्तर भारत में "व्यास" के नाम से पुकारते हैं।

पुराणों का मुख्य उद्देश्य सर्वसाधारण में धार्मिक भावना को जाग्रत और जीवित रखना ही है। पुराणों में सहज में समझ में आने लायक कथाओं और उपाख्यानों को पढ़कर या सुनकर धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा को दृढ़ बनाए रहते हैं और आचार-विचार सामाजिक व्यवहार व्यक्तिगत सदाचार आदि के सम्बंध में उपयोगी शिक्षा भी प्राप्त कर सकते हैं। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए पुराणों को 18 भागों में बाँटा गया है :

1. शिवपुराण, 2. लिंगपुराण, 3. ब्रह्मपुराण, 4. नारदपुराण, 5. गणेशपुराण, 6. गरुडपुराण, 7. वामनपुराण, 8. सूर्यपुराण, 9. अग्निपुराण, 10. स्कन्दपुराण, 11. मत्स्यपुराण, 12. विष्णुपुराण, 13. पद्मपुराण, 14. मार्कण्डेयपुराण, 15. कालिकापुराण, 16. देवीभागवतपुराण, 17. ब्रह्माण्डपुराण, 18. कल्किपुराण।

उपर्युक्त 18 पुराण बताए गए हैं; जिनके कई उपखण्ड किए गए हैं। पुराणों में योगविद्या का विषद वर्णन मिलता है। योग के सन्दर्भ में शिवपुराण में कहा गया है-

निरुद्धवृत्यन्तरस्य शिवे चित्तस्य निश्चला।
या वृत्तिः सा समासेन योगः स खलु पञ्चधा।।

---

1. मत्स्यपुराण 53/3

मन्त्रयोगः स्पर्शयोगी भावयोगस्तथापरः।
अभावयोगस्सर्वेभ्यो महायोगो परो मतः[1]॥

अर्थात् शिव में अपने अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों को निश्चय रूप से लगा देने का नाम ही योग है और वह पाँच प्रकार का होता है 1. मन्त्रयोग 2. स्पर्शयोग 3. भावयोग 4. अभावयोग 5. महायोग :

अष्टाङ्गो वा षडङ्गो वा सर्वयोगः समासतः।
यमश्च नियमश्चैव स्वस्तिकाधां तथासनम्॥

प्राणायामः प्रत्याहारो धारणाध्यानमेव च।
समाधिरिति योगाङ्गान्यष्टावुक्तानि सूरिभिः॥

शिवपुराण में अष्टांगयोग इस प्रकार बताया गया है। योग के आठ व छः अंग है। आठ इस प्रकार है : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। शिवपुराण में योगमार्ग के विघ्न के बारे में बताया गया है :

आलस्यव्याधयस्तीव्राः वृथादः स्त्यान संशय
अनवस्थिताचित्तत्वमश्रद्धाभ्रान्ति दर्शनम्।

दुःखानि दौर्मनस्यञ्च विषयेषु च लोलुता।
दशैते युञ्जिता पुंसामन्तरायाः प्रकीर्तिताः॥[2]

आलस्य, स्नेह, स्थ्यान के सम्बन्ध में संशय, चित्त की अस्थिरता, अश्रद्धा की भावना, भ्रांतिदर्शन, दुःख, मन में बुरे भावों का उठना, विषयों में चंचलता-ये योग मार्ग के दश विघ्न हैं। महर्षि पतंजलि ने भी अपने योगदर्शन में उपर्युक्त बाधाओं का वर्णन किया है। इससे स्पष्ट होता है कि पुराणों में योग का विशद विवरण प्राप्त होता है।

अग्निपुराण

अग्निपुराण में अष्टांगयोग का वर्णन करते हुए अग्निदेव कहते हैं:

---

1. वायु संहिता 21वां अध्याय
2. शिवपुराण

संसारतापमुक्त्यर्थं वक्ष्याम्यष्टाङ्गयोगकम्।
ब्रह्म प्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता॥

चित्तवृत्तिनिरोधाश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः।
अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ॥[1]

अर्थात् संसार के तापों की मुक्ति के लिए अब मैं अष्टांग योग को बतलाता हूँ। ब्रह्म को प्रकाश देने वाला ज्ञान होता है उस ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता के होने को ही योग कहा जाता है, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- पाँच यम होते हैं। इसके बाद आसन पर बैठकर अपना शरीर और गर्दन को समान अवस्था में अचल एवं स्थिर होना चाहिए। इसी प्रकार प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन भी किया गया है।

नारदपुराण

नारदपुराण के पूर्वभाग द्वितीय खण्ड के 71 से 75 श्लोक तक अष्टांग योग का वर्णन मिलता है। यहाँ पर यम के सात भेद बताए गए हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध और अनुसूया। 87वें श्लोक में तपश्चर्या, स्वाध्याय, संतोष, पवित्रता, श्रीहरिपूजन और सन्ध्योपासना नियम बताए गए हैं। नारदपुराण में 30 आसनों का वर्णन मिलता है। प्राणायाम के दो भेद बताए गए हैं : सगर्भ और अगर्भ। इसी प्रकार प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन मिलता है।[2]

मत्स्यपुराण

मत्स्यपुराण में कर्मयोग को प्रधानता दी गई है। सूतजी कहते हैं कि कर्म सहस्त्र ज्ञानयोग से भी कहीं अधिक सस्ता माना जाता है। कर्मयोग से समुत्पन्न जो ज्ञान है, उसी से वह परम पद प्राप्त होता है। कर्मज्ञान से उद्भूत होने वाला ब्रह्म है ज्ञान, कर्म उद्भव होने वाला नहीं है। इसलिए कर्मयोग की उपासना सर्वश्रेष्ठ है।

---

1. अग्निपुराण, द्वितीय खण्ड
2. नारदपुराण पूर्व भाग द्वितीय खण्ड

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो मनुष्य कर्म से युक्त आत्मा वाला है, वह हमेशा शाश्वत तत्त्व को प्राप्त होता है। इसलिए मत्स्यपुराण सर्वोत्तम व कर्म प्रधान है।

ब्रह्मपुराण

ब्रह्मपुराण में बताया गया है कि योग का अभ्यास कैसे किया जाए तथा उसके बाद उसकी विधियों का वर्णन किया गया है। योग करने के स्थान के विषय में कहा गया है कि द्वन्द्व में, शीत उष्णता में और अनिलात्मक दशा में कभी भी योग का अभ्यास नहीं करना चाहिए। साथ ही जहाँ बहुत शब्द हो रहा है। जलाशय के समीप, जीर्ण गृह में, चौराहे पर, सरीसृपों के निकट, श्मशान में, भययुक्त स्थान पर योग की साधना नहीं करनी चाहिए।[1]

महर्षि व्यास का मत है कि बहुत समय तक एक ही समय में आहार ग्रहण करने वाला विशुद्ध आत्मा से युक्त योगी बल की प्राप्ति किया करते हैं। काम, क्रोध, शीत, उष्ण, मेघ, वर्षा– इनको जीतकर यश, शोक, निद्रा तथा पुरुषों से सम्बंधित विषयों को जीत लेना चाहिए।

लिंग पुराण

लिंगपुराण में योग के विषय में कहा गया है:–

योगो निरोधो वृत्तेषु चित्तस्य द्विजसत्तमः।
साधनान्यष्टधा चास्य कथितानीह सिद्धये॥

चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग कहा जाता है और उसकी सिद्धि के लिए आठ साधन कहे गए हैं। चित्त की वृत्ति के निरोध का तात्पर्य यह है कि बहिर्मुख जो वृत्तियाँ होती हैं, उनकी परिणति के विच्छेद होने से उन वृत्तियों का अन्तर्मुखता से परिणाम होकर स्वकारण में लय हो जाना। इसी को योग कहते हैं। इससे जो ज्ञात होता है, वह पापों को दग्ध करके विषयों का सदा निरोध कर देता है।

---

1. योगाभ्यास निरूपण श्लोक 7, 8, 9

जिसकी इन्द्रियवृत्ति, का निरोध हो जाता है, उसकी योग की सिद्धि हो जाएगी।

स्कन्दपुराण

स्कन्दपुराण वैष्णव खण्ड में क्रियायोग का वर्णन किया गया है। श्रीस्कन्द देवर्षि नारद से क्रियायोग के बारे में प्रश्न करते हैं, तब देवर्षि नारद भगवान् विष्णु के बताए क्रियायोग का वर्णन करते हैं-

पूजाविधिः क्रियायोगो वासुदेवस्य कीर्त्यते।
स तु वेदेषु तन्त्रेषु बहुधैवास्तिवाधिति॥[1]

भगवान् वासुदेव की जो पूजन विधि है, वही क्रियायोग कहा जाता है। भगवान् वासुदेव का सम्पूर्ण पूजन-अर्चन की विधि और भक्तों की रुचि के अनुसार उसके विविध प्रकार को ही क्रियायोग कहा गया है।

स्कन्दपुराण के द्वितीय खण्ड में योगाख्यान वर्णन में योग का विशद वर्णन दिया गया है। सभी ओर से मन को हटाकर एकनिष्ठ उनकी वृत्ति करने से निरन्तर उसका अभ्यास करने से ही योग की सिद्धि हुआ करती है।

श्रीमद्भागवतपुराण

श्रीमद्भागवत पुराण में भी अनेक स्थानों में योग की चर्चा पाई जाती है। अनेक ऋषि-मुनियों के चरित्र में योगसाधना का वर्णन है। नारद तो योगी थे ही, वृत्र ने भी मृत्यु के समय भगवान् के चरणकमलों में ध्यान लगाकर समाधि द्वारा अपने प्राण का त्याग किया था।[2]

महर्षि दधीचि ने इन्द्र द्वारा हड्डियों का दान माँगने पर लोकोपकार की भावना से प्रेरित होकर इन्द्रिय, मन, बुद्धि का नियमन कर योग का

---

1. वैष्णव खण्ड
2. श्रीमद्भागवत् पुराण 2/1/18

आश्रय लिया; जिससे शरीरत्याग के समय उन्हें पता भी न लग सका कि कब प्राणान्त हो गया।[1] प्राणायाम का विवेचन करते हुए कहा गया है : **प्राणस्य शोधयेन्मार्गान् पूरककुम्भकरेचकैः।**[2] अर्थात् पूरक, कुम्भक, रेचक द्वारा प्राणी के मार्ग का शोधन करना चाहिए। पुराणों में प्राणायाम दो प्रकार का बताया गया है : अगर्भ, सगर्भ।

अगर्भ वह है; जिसमें जपध्यान के बिना ही मात्रा के अनुसार प्राणायाम किया जाए। सगर्भ में जप-ध्यान अनिवार्यरूप से अपेक्षित है। इसमें सगर्भ श्रेष्ठ है।

इस प्रकार पुराणों में योग की महत्ता स्वतः सिद्ध होती है। कथाओं के माध्यम से यौगिक क्रियाओं का वर्णन विभिन्न पुराणों में देखने को मिलता है। अतः पुराणों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

योगवासिष्ठ में योग का स्वरूप

योगवासिष्ठ योग का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस मे महर्षि वसिष्ठ भगवान राम को योगोपदेश देते है। यह ज्ञानोपदेश कथाओं के माध्यम से दिया गया है, जो की आध्यात्मिक एवं दार्शनिक उपदेश हैं। इस को 'वासिष्ठ रामायण', 'आर्ष रामायण', 'ज्ञान-वासिष्ठ', 'महारामायण' इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। योगवासिष्ठ में वाल्मीकि रामायण से अधिक श्लोक होने के कारण इसे 'महारामायण' की संज्ञा मिली है। इसमे वाल्मीकि रामायण से लगभग चार हजार श्लोक अधिक है। इसमें श्री राम की जीवनी न होकर महर्षि वसिष्ठ द्वारा भगवान राम को दिए गए आध्यात्मिक उपदेश हैं।

इस ग्रन्थ में 6 प्रकरण और 457 सर्ग और 27, 687 श्लोक हैं। यह महाभारत, स्कन्ध पुराण एवं पद्म पुराण के बाद यह सबसे बड़ा हिन्दू धर्मग्रन्थ है। इसके छह प्रकरण इस प्रकार है।

---

1. श्रीमद्भागवत् पुराण 1/6/30
2. श्रीमद्भागवत् पुराण 3/28/29

1. वैराग्यप्रकरण, 2. मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण, 3. उत्पत्ति प्रकरण, 4. स्थिति प्रकरण, 5. उपशम प्रकरण, 6. निर्वाण प्रकरण (पूर्वार्द्ध सर्ग और उत्तरार्ध सर्ग)।

प्रथम वैराग्य प्रकरण में यज्ञोपवीत संस्कार के बाद राम अपने भाइयों के साथ गुरुकुल में अध्ययनार्थ गए। अध्ययन समाप्ति के बाद तीर्थयात्रा से वापस लौटने पर राम विरक्त हुए। महाराज दशरथ की सभा में वे कहते हैं कि वैभव, राज्य, देह और आकांक्षा का क्या उपयोग है। कुछ ही दिनों में काल इन सब का नाश करने वाला है। अपनी मनोव्यथा का निवारण करने की प्रार्थना उन्होंने अपने गुरु वसिष्ठ और विश्वामित्र से की। दूसरे मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण में विश्वामित्र की सूचना के अनुसार वसिष्ठ ऋषि ने उपदेश दिया है। तीसरे उत्पत्ति प्रकरण, चतुर्थ स्थिति प्रकरण और पाचवें उपशम आदि प्रकरणों में संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय की उत्पत्ति का वर्णन है। छठे उपशम प्रकरण, को पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में विभाजन किया गया है। इसमें संसारचक्र में फँसे हुए जीवात्मा को निर्वाण अर्थात् निरतिशय आनन्द की प्राप्ति का उपाय प्रतिपादित किया गया है।

योगवासिष्ठ में योग के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन प्राप्त होता है जैसे आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, मोक्ष आदि का वर्णन वृहद् रूप में किया गया है। योग वसिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण में वसिष्ठ मुनि श्री राम जी को योग के स्वरूप के बारे में वर्णन करते हुए कहते है कि संसार सागर से पार होने की युक्ति का नाम योग है। और वह दो प्रकार का है। एक सांख्य बुद्धि ज्ञान योग और दूसरा प्राणो को रोकने का नाम योग बताया है।

एको योगस्तथा ज्ञानं संसारोत्तरेणक्रमे।
समानुपामौ द्वावेव प्रोक्तावेकफलदौ॥[1]

इस योग का पालन करके दुःखरूप संसार को पार किया जा सकता है। भगवान शिव ने दोनों का फल एक ही बताया है। योग की

1. यो. वा निर्वाण प्रकरण सर्ग 18/7

इन दोनों पद्धतियों का योग जिज्ञासुओं पर निर्भर करता है की वह किस का पालन करे किसी जिज्ञासु को योग सरल है और किसी को ज्ञान योग परन्तु दोनों योग में अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है–

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्य विज्ञाननिश्चयः।
ममत्वाभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः।।[1]

योगाभ्यास के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता। यद्यपि शास्त्रों में योग शब्द से उपर्युक्त दोनों ही बोध होता है।

योग वसिष्ठ में चित्त

महर्षि वसिष्ठ ने मन को चित्त की संज्ञा दी है। वसिष्ठ जी कहते है कि हे राम यह मन भावना मात्र है। परन्तु विचार क्रिया का रूप है। विचार की क्रिया से ही सम्पूर्ण फल प्राप्त होते हैं–

मनो हि भावनामात्रं भावनास्पदधर्मिणी।
क्रियातदभावितारूपं फलं सर्वोऽनु धावति।।[2]

मन संकल्प शक्ति से युक्त है। इस लोग में जैसे गुणी का गुण से हीन होना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार मन का कल्पनात्मक क्रिया शक्ति से रहित होना भी असम्भव है। मन जिसका अनुसंधान करता है, उसी का सम्पूर्ण कर्मेन्द्रिय वृत्तियाँ सम्पादन करती है।

मन को कर्म कहा गया है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, प्रयत्न, संस्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया आदि सभी मन की ही संज्ञा हैं।

मनोबुद्धिरहंकारचित्तकर्मकल्पना।
संस्मृतिर्वासनाविद्याप्रयत्नः स्मृतिरेव च।।
इन्द्रियं प्रकृतिर्मायाक्रियाचेतीतरा अपि।
चित्राः शब्दोक्रयो ब्रह्मन्संसारभ्रमहेतवः।।[3]

---

1. यो.वा. निर्वाण प्रकरण सर्ग 13/8
2. यो.वा. उपशम प्रकरण सर्ग 96–15
3. यो.वा. उत्त्पति प्रकरण सर्ग 96/13–14

संसार के कारण ही मन की कल्पना है। चित्त को चेत्य का संयोग होने पर ही संसार भ्रम होता है। अन्य जितनी संज्ञा मन की कही गयी है वे सब मन के बदलने से एकदम बदल जाती है। मन के स्वरूप के बारे में बताते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया हे कि यह मन न तो जड़ है और न चेतन ही है-

मन इत्युच्यते नैव जडं न चिन्मयम्।।[1]

संकल्प-विकल्प की कल्पना ही मन है। यह संसार उसी मन से पैदा हुआ है। यह जड़ चेतन दोनों में चलायमान है। यह कभी जड़ की तरफ और कभी चेतन की तरफ चला जाता है। मन की कई संज्ञा है- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव इत्यादि। मन संकल्प से अनेक संज्ञा प्राप्त करता है।

यथा गच्छति शैलुषोरूपाण्यलंतथैवहि।
मनोनामान्यनेकानि धत्तककार व्रजेत्।।[2]

मन से ही यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत् व्याप्त है। मन से भिन्न तो केवल परमात्मा ही है मन के नाश होने पर परमेश्वर ही अवशिष्ट रहता है इनके प्रमाद कारण मन इस जगत् की रचना करता है। मन के द्वारा शरीर बनता है और मरता है। जिस पुरुष ने मन पर विजय प्राप्त कर ली है, वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

यम-नियमः-

यम-नियमों का अभ्यास योग साधना करने वाले साधकों को निर्वाण प्राप्ति के लिए आवश्यक बताया है। वसिष्ठ जी ने कहा कि जो साधक अपने पूर्वजों के उपदेश को ध्यान में रखकर उन पर आचरण करते है वह धर्मात्मा कहलाता है और पाप मार्ग से बचता है। धर्मात्मा भी दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति मार्ग है जिसमें शास्त्रोक्त करने योग्य शुभ कर्म करे और दान पुण्य सदाचरण करके अपने कृत्य कर्म का फल चाहे। दूसरा निवृत्ति मार्ग है जिसमें संसार के सभी सुखों को

1. यो.वा. उत्त्पति प्रकरण सर्ग 96/41
2. यो.वा. उत्त्पति प्रकरण सर्ग 96/43

मिथ्या समझे, अपने अन्तःकरण को स्वभाव से ही स्वच्छ रखे, अपने पवित्र विचार करके स्वाध्याय द्वारा सत्यशास्त्रों का अध्ययन कर अपनी बुद्धि को तीव्र करे और अपनी दृष्टि समान रखे।

योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण में कहा गया है कि योग साधक को वन एवं पर्वत की कन्दराओं में निवास को श्रेष्ठ समझे और कुँआ, बावड़ी, सरोवर एवं नदियों में स्नान तथा भूमि या पत्थर पर शयन करता हुआ, निरन्तर अपने वैराग्य में वृद्धि करता रहे और धारणा व ध्यान द्वारा चित्त में स्थिरता लाकर, आत्मचिन्तन करता हुआ समस्त सांसारिक भोगों से पूर्ण विरक्त हो जाए।

प्राणायाम

योग वसिष्ठ में प्राण का स्थान ह्रदय प्रदेश बताया गया है। प्राणवायु निरन्तर स्पन्द तथा गति करता है। जो विभिन्न-प्राण, अपान, समान आदि के रूपों में होता है।

प्राणापानसमानापैस्ततः सहृदयानिलः।[1]

रेचक- रेचक की चर्चा करते हुए कहते है कि प्राणों की ह्रदय कोश में होने वाली जो स्वाभाविक बहिर्मुखता रेचक कहलाती हैं। **पूरक**- प्राणों का शरीर में प्रवेश करने को पूरक कहते है। **कुम्भक**- प्राण वायु का ह्रदय प्रदेश में स्थिर होना कुम्भक कहलाता है। जिसका योगी लोग अनुभव करते है इसी को आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं। बाह्य नासिका के अग्रभाग से लेकर बराबर सामने बारह अंगुल पर्यन्त आकाश में जो अपान वायु की निरन्तर स्थिति है, उसे योगी लोग बाह्यकुंभक कहते हैं।

अपानस्यबहिष्ठतमपरं पूरकं विदुः।
बाह्यानाभ्यंतराप्रवैतान्कुंभकादीनारतम्।।[2]

योग वसिष्ठ के निर्वाण प्रकरण में कहा गया है कि प्राण और अपान के स्वभाव जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकादि प्राणायाम है,

---

1. नि. प्र. 24/25
2. यो.वा. 25/19

इनका भलीभाँति तत्त्व रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करने वाले पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है।

प्राणापानस्वभावांस्तान् वृद्धाभूयोन जायते।
अष्टावेते महाबुद्धेरात्रिंदिवमनुस्मृताः॥[1]

प्राण के पूरक और अपान के रेचक बाद जब अपान स्थित होता है तो प्राण का कुम्भक होता है। उस कुम्भक में स्थित होने पर प्राणी तीनों तापों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि वह अवस्था आत्मतत्त्व की होती है। यह अवस्था साक्षी भूत सत्ता है वही वास्तव में आत्मतत्त्व है। इसके स्थित होने से प्राण में स्थिरता आ जाती है और मन का मनत्व भाव नष्ट हो जाता है।

स्वच्छं कुंभकमभ्यनभूयः परितप्यते।
अपानेरेचकाधारं प्राणपूरांतस्थितम्॥[2]

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने वाले पुरुष का मन विषयाकार वृत्तियों के होने पर भी बाह्यविषयों में रमण नहीं करते है। जो इस अवस्था का अवलम्बन कर लेता है वह ही उस परब्रह्म को प्राप्त करता है।

प्रत्याहारः-

इन्द्रियां अपने विषयों से शान्त होकर अपना कार्य बन्द कर देती है इसी स्थिति का नाम प्रत्याहार है। योगवासिष्ठ में प्रत्याहार का वर्णन करते हुए कहा है कि इस संसार में कहीं भी मन चपलता से रहित नहीं दिखता। चेतन तत्व में जो यह चंचल क्रिया शक्ति विद्यमान है, उसी को तुम मन की शक्ति समझो। इस प्रकार से जो मन चंचलता से रहित है, वही तप है और वही मोक्ष कहलाता है। मन निरोध मात्र से ही सम्पूर्ण दु:ख शांत हो जाते है और मन के संकल्प मात्र से परम सुख की प्राप्ति होती है।

---

1. नि. प्र. 25/20
2. नि.प्र. 25/53

मनोविलयमात्रेण दुःखशांतिरयाप्यते।
मनोमननमात्रेण दुःखं परमवाप्यते।।[1]

अविद्या से ही मन की चपलता उत्पन्न होती हैं। इस का विचार के द्वारा नाश करना चाहिए। विषयो के चिन्तन का त्याग कर देने से अविद्या का नाश हो जाता है। और ऐसा होने पर मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। साधक को चाहिए कि जो-जो वासना उदित होती है, उसे मिथ्या समझ कर छोड़ दे जिस कारण अविद्या का क्षय हो जाता है। अर्थात् भावना की भावना न करना ही वासना का क्षय है। इसी को मन का नाश या अविद्या का नाश कहते हैं। अतः हमे मन में उठने वाली वासनाओं को छोड़ देना चाहिए।

यायोदतिम नोनाम्नीवासनासितांतरा।
तांतापरिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत्।।[2]

इस प्रकार निश्चय मन वाला साधक जब भोगों का चिन्तन त्याग देता है, तब वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

ध्यानः-

उपशम प्रकरण में ध्यान की चर्चा करते हुए महर्षि वसिष्ठ ने कहा कि ओंकार का ध्यान करना चाहिए। यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इसमें जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक (ओद्दम्) समुदाय हुआ है, इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं जैसे- अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं।[3] अतः साधक को ओंकार ध्यान करना चाहिए।

---

1. उत्पत्ति प्रकरण 112/9
2. उ. 20/112/22
3. सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास

समाधिः-

महर्षि वसिष्ठ जी समाधि के स्वरूप के बारे में श्रीराम से कहते हैं कि यह जो गुणों का समूह गुणात्मक तत्त्व है, उसे अनात्म तत्त्व मानकर अपने आप को केवल इनका साक्षीभूत चेतन जानो और जिनका मन स्वभाविक सत्ता में लगकर शीतल जल के समान शीतल और शांत हो गया हो वही समाधिस्थ है।

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः।
अतः शीतलतायासौ समाधिरिरिति कथ्यते॥[1]

जो समत्व भाव आने पर आत्मा के दर्शन से शान्त हुआ है, उसको समाधि कहते हैं हे राम जिसको ऐसा निश्चय हो गया है कि मैं शुद्ध चिदानंद स्वरूप हूं, और मेरा इन सांसारिक दृश्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, उस के लिए घर और बाहर एक समान है। जिसके हृदय से ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि समापत हो गए और मन पूर्ण रूप से शांत हो गया है उस अवस्था को समाधि कहते है।

प्रशान्तजगदास्थोंतर्वीतशोकभयैषिणः।
स्थोभवतियेनात्मा ससमाधिरितिस्मृतः॥[2]

मोक्षः-

महर्षि वसिष्ठ जी, श्री राम से मोक्ष का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि लोक में दो प्रकार की मुक्ति होती है- **एक जीवनमुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति।** जिस साधक की इष्टानिष्ट कर्मों के ग्रहण त्याग में अपनी कोई इच्छा नहीं रहती, ऐसे पुरुष की स्थिति को तुम जीवनमुक्त अवस्था सदेहमुक्ति समझो। अर्थात् देह का विनाश होने पर पुनर्जन्म से रहित हुई वही जीवनमुक्ति विदेहमुक्ति कही जाती है।

असंसक्तमतेर्यत्यागदानेषु कर्मणाम्।
नैषणातात्स्थितिं विद्धि त्वं जीवन्मुक्तामिह॥

---

1. उ. प्र. 56/7
2. उ. प्र. 56/20

सैव देहक्षयेरामपुनर्जननवर्जिता।
विदेहमुक्ता प्रोक्ता तत्स्थानायांति दृश्यताम्।।[1]

जिन्हें विदेहमुक्ति हो गई है वे फिर जन्म धारण नहीं करते है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से होती है, कर्म से नहीं। महर्षि वसिष्ठ जी कहते हैं कि ब्रह्म देवों का भी देव है उसके ज्ञान से ही परम सिद्धि मोक्ष की प्राप्ति होती है। संसार से बन्धन की निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही संभव है।

अयंसदेव इत्येव संपरिज्ञानमात्रतः।
जंतोर्नजायते दुःखजीवन्मुक्तत्त्वमेति च।[2]

सत्संग तथा वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय करना ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का साधन है। जिससे जीव के दुःख का निवारण होकर वह जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त होता है।

जैन वाङ्मय में योग का स्वरूप

भारतवर्ष में जैनधर्म का विकास छठी शताब्दी में हुआ, जैन मत के विकास एवं प्रचार का श्रेय अंतिम तीर्थंकर महावीर को जाता है। इन्होंने ही जैन धर्म को पुष्पित और पल्लवित किया। जैनधर्म और जैनदर्शन मुख्यतः इन्हीं के उपदेशों पर आधारित है।

जैन साहित्य में योग

जैन साधना पद्धति का नाम मोक्षमार्ग है। इसके मुख्य तीन अंग है **: 'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।'** प्राकृत आगम उत्तराध्ययन के 28 अध्ययन में मोक्षमार्ग का अति संक्षिप्त व व्यवस्थित प्रतिपादन किया गया है। तथा इसके 29, 30 व 32 वें अध्ययन में भी साधना पथ के सूत्रों का निर्देश किया गया है। प्राचीन प्राकृत आगमों में **आचारांग** का प्रथम स्थान है तथा वह सर्वाधिक लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण है। उसमें जैन साधना पद्धति का गूढ़-गम्भीर सूक्ष्म एवं मार्मिक प्रतिपादन किया

1. उ. प्र. 42/12-13
2. उ. प्र. 6/6

गया है। इसी प्रकार **सूत्रकृताग तथा भगवती** में भी भावना, आसन व ध्यान आदि के निर्देश प्राप्त होते हैं। **औपपातिक** में तपोयोग का बड़ा ही व्यवस्थित प्रतिपादन किया गया है। तपोयोग सम्यक्योग का ही एक प्रकार है। **प्राकृत आगम साहित्य** में साधना-पद्धति के बीज यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। लेकिन उनका विस्तार व प्रक्रियाएँ प्राप्त नहीं होती हैं। अर्थात् विधि तन्त्र का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

जैनाचार्यों की दृष्टि में योग एवं ध्यान

भारतीय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक परंपरा में योग-साधना-पद्धति का सर्वोत्तम स्थान है। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में योग-साधना को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया गया है। चाहे वह वैदिक धर्म दर्शन हो या श्रमण धर्म-दर्शन। किन्तु कुछ सन्दर्भों में समानता होते हुए भी दोनों अपने अन्दर कुछ विशिष्टता को पिरोए हुए हैं; जिनसे इनकी मौलिक सांस्कृतिक झलक स्पष्ट झलकती है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसी ने योग का प्रयोग अध्यात्म के लिए किया है, तो किसी ने व्यवहार की भूमिका के लिए और किसी ने अध्यात्म और व्यवहार-दोनों के लिए किया है। लेकिन वर्तमान में देखा जाए, तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि योग का प्रयोग केवल शरीर के लिए किया जाने लगा है।

उपनिषदों में योग को ब्रह्म के साथ साक्षात्कार कराने वाली क्रिया कहा गया है, तो गीता में उसी को कर्म करने की कुशलता को योग बतलाया गया है। यथा **योगः कर्मसु कौशलम्।**[1] योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग बतलाया है। यथा **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**[2] और बौद्धदर्शन में बोधिसत्व की प्राप्ति कराने वाली क्रिया योग है। इसी प्रकार **जैनदर्शन में आत्मा की शुद्धि कराने वाली क्रियाओं को योग कहा गया है।** अतः यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दार्शनिकों, चिन्तकों, मनीषियों एवं ऋषि-मुनियों ने योग को एक महत्त्वपूर्ण क्रिया के रूप में स्वीकार किया है। इसके

1. श्रीमद्भगवतगीता, अध्याय-2, श्लोक 48
2. पातञ्जल योगदर्शन, 1/2

अन्तर्गत अनेक प्रकार के ध्यान तथा तप का समावेश होता है। परन्तु इन सबका एकमात्र लक्ष्य है- आत्मिक विकास।

जैन दर्शन के अनुसार योग

प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने योग का निरुक्तिपरक अर्थ **'युजिर् योगे'** स्वीकार किया है; जो आत्मा को केवलज्ञानादि परम सात्त्विक तथा ज्ञानचेतना के साथ जोड़ता है, वह योग है। यथा

युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योगः।

'योग' शब्द के पर्यायवाची : संयोग, सम्पर्क, युक्ति, उपाय, नियम, विधान, सूत्र, उपयुक्तता, वशीकरण, ध्यान, चित्तवृत्तिनिरोध, निर्वाण, अवधान, समाधि इत्यादि शब्द योग के ही पर्यायवाची हैं।

योग का स्वरूप एवं परिभाषा– जैनाचार्य मोक्ष को चरम लक्ष्य मानते हैं तथा मोक्ष प्राप्त कराने वाली क्रिया को ही योग कहते हैं। जैनागमों में मोक्ष के प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में संवर तत्त्व का प्रयोग हुआ है; जो एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। आस्रव-निरोध को संवर कहते हैं :

निरुद्धासवे संवरो। आस्रवनिरोधः संवरः।

जैनदर्शन में आचार्यों ने कर्मों के आस्रव एवं कर्म बन्ध के पाँच हेतु बतलाए हैं **: पंच आसवदारा पण्णत्ता तं जहा मिच्छतं, अविरई, पमाया, कसाया, जोगा। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय- योगाबन्धहेतवः** अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये कर्मों के आस्रव एवं कर्म बन्ध के हेतु हैं। इनमें मिथ्यात्व, कषाय और योग को प्रमुख माना गया है। प्रस्तुत प्रसंग में एक बात स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि योगदर्शन में जिसे चित्तवृत्ति कहा गया है, उसी को जैनाचार्यों ने आस्रवरूपी योग के नाम से अलंकृत किया है। अतः योगदर्शन का 'योग' शब्द 'संवर' शब्द का ही समानार्थक है। योग को परिभाषित करते हुए जैनदर्शन में कहा गया है कि **तिविहे जोए पण्णत्ते तं जहा मणजोए, वइजोए, कायजोए।**[1]**, कायवाङ्मनःकर्म योगः।**[2],

1. स्थानांगसूत्र 3/1/124
2. तत्त्वार्थसूत्र 6/1

आस्रवः[1] अर्थात् मन, वचन और शरीर की क्रियाओं से उत्पन्न आत्मप्रदेशों का कम्पन जिससे कर्म-परमाणुओं का बन्ध होता है, वह योग है तथा वह योग ही आस्रव है।

योग के प्रकार

जैन वाङ्मय में **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र** को मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार किया जाता है **: सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।**[2] तथा इसे त्रिविध योग के नाम से भी अभिहित किया जाता है। लेकिन प्राचीन आगम उत्तराध्ययन एवं दर्शनपाहुड में चतुर्विध मार्ग का वर्णन भी उपलब्ध होता है। तथा उस चौथे मार्ग का नाम है : **सम्यक् तप।**

(क) (नाणं च दंसणं चेव चरितं च तवो तहा। एस मग्गो त्ति पत्तो जिणेहिं वरदसिहिं॥ नाणं च दंसणं चेव चरितं च तवो तहा। एवं मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गई॥)

(ख) (णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण। चउण्हं वि समाजोगे सिद्धा जीव ण संदेहो।

1. सम्यग्दर्शन सामान्यत

तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्त्वार्थ पद में दो शब्द हैं : तत्त्व और अर्थ। तत्त्व का अर्थ है : उसका भाव अथवा स्वभाव और अर्थ का मतलब है पदार्थ अर्थात् स्वरूप सहित पदार्थ अथवा पदार्थ का उसके स्वरूप सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जैनवाङ्मय में सम्यग्दर्शन की परिभाषा विभिन्न दृष्टिकोणों से की गई है। सम्यग्दर्शन के निश्चय व व्यवहार दो भेद जानने चाहिए :

सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरूवदो भेद॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन समस्त रत्नों में सारभूत है और मोक्षरूपी वृक्ष

1. तत्त्वार्थसूत्र 6/2
2. तत्त्वार्थसूत्र, 2/1, अ. 1, सूत्र 1

का मूल है। इसके दो भेद है:-[क] निश्चय [ख] व्यवहार।

क. **निश्चय सम्यग्दर्शन** की निम्नलिखित परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं : शुद्धात्मा की रुचि रूप सम्यग्दर्शन। अतीन्द्रिय सुख की रुचि रूप सम्यग्दर्शन। वीतराग सुखस्वभाव ही मैं हूँ, ऐसा निश्चय रूप सम्यग्दर्शन। शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप सम्यग्दर्शन।

ख. **व्यवहार सम्यग्दर्शन** की निम्नलिखित परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं।

1. देव, शाख, गुरु व धर्म की श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन।
2. आप्त, आगम व तत्त्वों की श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन।
3. तत्त्वार्थ या पदार्थों आदि का श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन।
4. पदार्थों का विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन।
5. यथावस्थित पदार्थों का श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन।
6. तत्त्वों में हेय व उपादेय बुद्धि रूप सम्यग्दर्शन।
7. तत्त्व रुचि रूप सम्यग्दर्शन।

पदार्थों का शुद्धात्मा से भिन्न दर्शन रूप सम्यग्दर्शन आचार्यों ने इस प्रकार कहा है : **ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण।** अर्थात् ज्ञेय और ज्ञाता-इन दोनों की यथारूप प्रतीति सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

2. सम्यग्ज्ञान-

वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यक्दर्शन के पश्चात् उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही आत्मविकास का कारण होता है। स्व और पर का भेद-विज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है तथा हेय और उपादेय का विवेक कराना इसका मूल कार्य है :

अन्यूनमतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥[1]

अर्थात् जो पदार्थ को न्यूनता रहित, अधिकता रहित, ज्यो-का-त्यों,

---

1. रत्नकरण्डश्रावकाचार, आचार्यसमन्तभद्र, श्लोक 42

विपरीतता रहित और सन्देह रहित जानता है, उसे आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं। जैन दर्शन में इस सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है : **सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्**[1]**;** क्योंकि ज्ञान ही हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में सक्षम है : **हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।**[2]

सम्यक्ज्ञान के भेद–

सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं। आचार्य उमास्वाति लिखते है : **मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्** अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान है। ये ज्ञान ही प्रमाण हैं। प्रथम दो मति और श्रुत इन्द्रिय और मन की सहायता से होने के कारण परोक्ष प्रमाण हैं : **तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।** अवधि, मन पर्यय और केवल- ये तीन ज्ञान आत्मा की सहायता से होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आचार्य उमास्वामी ने ज्ञान ही प्रमाण है, इतना तो बतला दिया। लेकिन प्रमाण की कोई स्वतन्त्र परिभाषा नहीं बतलाई। परवर्ती आचार्यों ने प्रमाण की कई परिभाषाएँ बतलाईं : **प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।** स्व अर्थात् अपने और पर अर्थात् पदार्थ को जानने वाला तथा बाधा से रहित निर्दोष ज्ञान प्रमाण है। इस परिभाषा में ज्ञान को प्रमाण बतलाया गया है।

सम्यक् चरित्र

हिंसादि पापों से निवृत्ति होने को चरण अथवा चरित्र कहते हैं। इसके दो प्रकार माने गये हैं : 1. सकल चरित्र, 2. विकल चरित्र अथवा निश्चय चरित्र और व्यवहार चरित्र।

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्।
अनगाराणां विकल सागाराणां ससङ्गानाम्।।

सकलचरित्र निवृत्तिपरक है और व्यवहारचरित्र प्रवृत्तिपरक हैं। व्यवहारचरित्र आचार का बाह्य पक्ष है तथा आन्तरिक पक्ष निश्चयचरित्र

1. न्यायदीपिका, अभिनवधर्मभूषणयति, पृष्ठ 99
2. परीक्षामुखमूत्र, परिच्छेद 1, सूत्र 2

है। निश्चयचरित्र का अर्थ है–सम्पूर्ण राग–द्वेषादि विकारी भावों से रहित होकर परम साम्य भाव में स्थित होना।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।

जो धर्म है, वह साम्य है और वह साम्य मोह लोभ तथा क्षोभरहित आत्मा का ही परिणाम है। कहा भी जाता है कि **'स्वरूपे चरणं चरित्रम्'**। वास्तव में यह स्थिति आत्मरमण की है। जीव के आध्यात्मिक विकास का मुख्य आधार सकल चरित्र ही है। इसे ही समता वीतरागता या मध्यस्थता भी कहते हैं।

4. सम्यग्तप

जैनवाङ्मय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र के साथ सम्यग्तप का भी उल्लेख प्राप्त होता है; जिसकी चर्चा हमने पूर्व में की है। हालाँकि उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसका अन्तर्भाव सम्यक्चरित्र में कर दिया लेकिन प्राचीन समय में इसका स्वतन्त्र स्थान रहा है। यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। तथा न केवल भारतीय धर्मों में अपितु विश्व के प्रत्येक धर्म में, यहाँ तक कि धर्म को न स्वीकारने वाले विद्वानों व चिन्तकों के शब्दों में, उनकी भावनाओं में भी यह धारणा स्पष्ट दिखती है। तप न केवल हमारी अध्यात्म साधना का, अपितु समस्त जीव–जगत् का प्राणाधार है। तप नैतिकता की आत्मा है।, तप रहित नैतिकता खोखली है। इस भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उद्दात्त एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं; वह सब तपस्या से ही फलीभूत है। वैदिक कल में ऋषियों मुनियों, तपस्वियों की तपस्या से ही यह राष्ट्र साधनसम्पन्न व विश्व गुरु हुआ है।

तप

तप का अर्थ

आचार्य अभयदेवसूरि ने तप का निरुक्त अर्थात् शाब्दिक अर्थ बतलाते हुए कहा है कि जिस साधना के द्वारा शरीर के रस, रक्त, मांस, हड्डियाँ, मज्जा, शुक्रादि जब तप जाते हैं, वह तप है तथा जिसके द्वारा

अशुभ कर्म जल जाते हैं; अथवा नष्ट हो जाते हैं; वह तप है।

रसरुधिरमांसमेदाऽस्थिमज्जाशुक्राणि येन तप्यन्ते कर्माणि वाऽशुभानीत्यस्तपो ना निरुक्तः।[1]

इसी प्रकार भावप्रधान तप की परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है कि त्याग करने से इच्छाओं का निरोध हो जाता है। यही भाव तत्त्वार्थसूत्र में भी प्रकट किया गया है : **इच्छानिरोधः तपः।**[2] वस्तुतः त्याग से इच्छा, आशा और तृष्णादि शान्त हो जाती हैं। अतः तप की उक्त परिभाषा भावात्मक एवं व्यापक है। तप की इस परिभाषा से यह भी स्पष्टतया सिद्ध होता तप केवल देह-दमन तक ही सीमित नहीं है। अपितु उसका अंकुश इच्छाओं और वासनाओं पर भी रहता है; जिससे आत्मा की शुद्धि होती है : **नाणेण लाणई भावे दंसणेण य सदृहे चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण पिरसुज्झई।।** अतः तप वह प्रक्रिया है; जिससे जीवबद्ध कर्मों का क्षय करके विशुद्धि को प्राप्त होता है।

तवेणं वोदाणं जणयइ।[3]

व्यवहारिकता से संयम और तप को हम दो अलग-अलग शब्द कह सकते हैं। लेकिन दोनों का भावार्थ एक ही है इन्द्रियसंयम, कायसंयम, वाक्संयम तथा मनसंयम आदि। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य सोमदेवसूरि लिखते हैं कि इन्द्रियों और मन को वश में करना, इन पर संयम रखना, इच्छाओं पर अंकुश लगाना आदि का नाम तप है :

इन्द्रियमनसो नियमानुष्ठानं तपः

तप के भेद

तप की विधियाँ एवं प्रक्रियाएँ पृथक्-पृथक् होने के कारण इसके भिन्न-भिन्न भेद एवं प्रभेद शास्त्रों में बतलाए गए हैं। लेकिन आगमों में मुख्यतः दो प्रकार के तपों का उल्लेख प्राप्त होता है-बाह्यतप एवं आभ्यन्तरतपः

---

1. स्थानांगवृत्ति 5
2. तत्त्वार्थसूत्र
3. उत्तराध्ययनसूत्र, 2 9/28

सो तवो दुविहो वुत्तो बहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो॥

बाह्यतप

बाह्यतप से तात्पर्य है बाहरी रूप से दिखाई देने वाला तप, जैसे- उपवास। इसका स्पष्ट प्रभाव शरीर पर दिखाई देता है। कायक्लेश, अभिग्रह, भिक्षावृत्ति- ये सब ऐसी प्रक्रियाएँ हैं; जो बाहरी रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। आभ्यन्तरतप का अर्थ है- अन्तरंग में प्रवाहित होने वाली शुद्धि प्रक्रिया। इस तप का सम्बन्ध मन से होता है। मन को सम्मार्जित करना, सरल बनाना, एकाग्र करना, शुभ चिन्तन में लगाना, बाहरी वस्तुओं से हटाना, आत्मचिन्तन में लगाना इत्यादि आभ्यन्तरतप की विधियाँ हैं; जैसे ध्यान, स्वाध्याय, विनय आदि।

बाह्य और अभ्यंतर तप एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों तपों का सम्यक् रूप से पालन करने वाला पंडित मुनि शीघ्र ही सर्व संसार से मुक्त हो जाता है :

एवं तवं तु दुविहं जे सम्म आयरे मुणी।
स खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पण्डिए॥

बाह्य तप के भेद–बाह्य तप के छह भेद बतलाए गये है : 1. अनशन, 2. उनोदरी 3. भिक्षाचरी, 4. रसपरित्याग, 5 . कायक्लेश, 6. प्रतिसंलीनता।

(क) अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥

(ख) अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग-
विविक्तशय्यासनकायक्लेशबाह्ययतपः।

बाह्य तप के छह भेद

अनशन-

अनशन का अर्थ है : भोजन का त्याग, उपवास, निराहार, व्रतादि

इसके पर्यावाची हैं। क्या कारण है कि अनशन को सभी तपों में पहले रखा गया? इसका कारण है कि अनशन में भूख पर विजय प्राप्त करनी होती है और भूख ही संसार में दुर्जेय है। अत: अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं है। इसके दो भेद हैं : **इत्वरिक और यावत्कस्थिक-अणसणे दुविह पण्णते-तं जाहा-इयत्तरिए य आवकहिए।**[1] इत्वरिक तप में समय की सीमा होती है, मर्यादित समय के बाद भोजन की आकांक्षा होने से इसे सावकाक्ष तप भी कहते हैं। यावत्कत्थिक तप में जीवनपर्यन्त भोजन आहार का त्याग किया जाता है। इसमें भोजन के प्रति कोई भी आकांक्षा अवशिष्ट नहीं रहती। इसलिए इसे निरवकांक्ष तप भी कहते हैं :

इत्तरिया मरणकाले दुविहा अणसणा भवे।
इत्तरिया सावकंखा निरवकखा बिइज्जिया॥

ऊनोदरी

ऊन का अर्थ है : कम तथा उदर का अर्थ है- पेट; अर्थात् भूख से कम खाना या भोजन करते समय पेट को खाली रखना, इसका नाम ऊनोदरी है।

भिक्षाचरी

भिक्षाचरी का सामान्य अर्थ है-याचना करना, माँगना। लेकिन केवल माँगना मात्र ही तप की संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। अत: भिक्षाचरी का मुख्य अर्थ है : नियमपूर्वक, शुचितापूर्वक, पवित्र उद्देश्य से और शास्त्रकथित विधि-विधानपूर्वक आहार ग्रहण करना है।

रसपरित्याग

रसप्रीति विवर्धकम् तत्त्वार्थ सूत्र; अर्थात् जिसके कारण खाद्य वस्तुओं में प्रीति (आसक्ति) उत्पन्न होती है, उसे रस कहते हैं। अत: घी, दूध, मक्खन, मधु, आदि तथा पेय पदार्थ और गरिष्ठ विकारवर्धक वस्तुओं का त्याग करना रस परित्याग कहलाता है।

---

1. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 25/7/198

प्रतिसंलीनता

प्रतिसंलीनता से तात्पर्य है–पर वस्तुओं में लीन या आसक्त आत्मा को निजभाव में लीन करना ही प्रतिसंलीनता कहलाता है। प्रतिसंलीनता का अर्थ गोपन भी होता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में बतलाया गया है कि साधक को कछुए की भाँति समस्त इन्द्रियों एवं अंगोपांगों का गोपन करके रहना चाहिए।[1]

आभ्यन्तर तप

इस तप का सम्बन्ध मन से होता है। अन्तरंग विशुद्धि और अन्तरंग दोषों का परिहार इसका प्रमुख लक्ष्य है। बाह्य तप स्थूल है; जिसका वर्णन खाद्य पदार्थों तथा शारीरिक अपेक्षा से किया जाता है। जबकि आभ्यन्तर तप सूक्ष्म है और आत्मपरिणामों की विशुद्धि जिसका प्रमुख लक्ष्य है।

आभ्यन्तर तप के भी छः भेद बतालाए गए हैं– 1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. ध्यान और 6. व्युत्सर्ग : **अढिभन्तरए तवे छविहे पण्णत्ते तं जहा पायच्छितं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ झाणं विओस्सगो।**[2]

प्रायश्चित्त

'प्रायश्चित्त' शब्द प्रायः और चित्त के संयोग से निष्पन्न हुआ है। जिसमें प्रायः का अर्थ है–अपराध और चित्त का अर्थ है–शोधन; अर्थात् जिस क्रिया के द्वारा अपराध की शुद्धि हो, उसे प्रायश्चित कहते हैं यथा– **अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तं-अपराधविशुद्धिः।** अर्थात् किसी व्रत नियम के भंग होने पर उसमें लगे दोष का परिहार करना अथवा गुरु के समक्ष चित्तशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना करना और उसके लिए प्रायश्चित स्वीकार करना प्रायश्चित तप है। उत्तराध्ययन में इसके दस प्रकार बतलाए गए हैं : 1. आलोचना, 2. प्रतिक्रमण, 3. तदुभय, 4. विवेक, 5. कायोत्सर्ग, 6. छेद, 7. मूल, 8.परिहार, 9. श्रद्धान और 10. तपस्या।

1. व्याख्याप्रज्ञप्ति, 25/7/215
2. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 25/7/217 व उत्तराध्ययनसूत्र, 30/30

आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खू वहई सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं।।[1]

1. विनय-

विनय शब्द के मुख्य तीन अर्थ होते हैं : अनुशासन, आत्मसंयम, (शील) नम्रता एवं सद्व्यवहार। लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से इसका अर्थ होता है : वरिष्ठ एवं श्रेष्ठ गुरुजनों का सम्मान तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुए उनके निर्देशानुसार अनुशासित जीवन जीना। आचार्य उमास्वामी ने विनय के चार भेद बतलाए है।

1. ज्ञानविनय, 2. दर्शनविनय, 3. चरित्रविनय, 4. उपचारविनय। इसी प्रकार स्थानांगसूत्र[2] में इसके सात प्रकार बतलाए हैं : 1. ज्ञानविनय, 2. दर्शनविनय, 3. चरित्रविनय, 4. मनोविनय, 5. वचनविनय, 6. कायविनय और 7. लोकोपचारविनय।

3. **वैयावृत्य**– वैयावृत्य को सेवा, शुश्रूषा, पर्युपासना, साधर्मिक वात्सल्य आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है।

4. **स्वाध्याय**– सच्छास्त्रों का शास्त्रोक्त विधि से मर्यादापूर्वक पठन करना स्वाध्याय कहलाता है। ज्ञानप्राप्ति के लिए आलस्य का त्यागकर अध्ययन करना स्वाध्याय है। अभ्यास की दृष्टि से इसके भी पाँच प्रकार बतलाए गए है : 1. वाचना, 2. प्रच्छना, 3. अनुप्रेवा, 4. आम्नाय, 5. धर्मकथा।

5. **ध्यान**– चित्त की एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि चित्त की अवस्थाओं को किसी विषय पर केन्द्रित करना ध्यान है। ध्यान के मुख्य चार भेद बतलाए गए हैं : आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान है।

6. **व्युत्सर्ग तप**– व्युत्सर्ग का अर्थ है–त्यागना, छोड़ना इत्यादि

---

1. उत्तराध्ययनसूत्र 30/31
2. स्थानांगसूत्र 7/130

विशिष्ट प्रकार का त्याग व्युत्सर्ग है। इस सन्दर्भ में आचार्य अकलंक लिखते हैं कि नि:संगता, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग ही व्युत्सर्ग है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार अहंकार, ममकार आदि सभी उपाधियों के त्याग को व्युत्सर्ग कहा गया है। व्युत्सर्ग के दो भेद हैं-बाह्य व्युत्सर्ग और अन्तरंग व्युत्सर्ग।

बाह्य व्युत्सर्ग– धन-धान्य, मकान, क्षेत्र, सुवर्ण आदि बाह्य पदार्थों के ममत्व का त्याग करना बाह्योपाधि व्युत्सर्ग कहलाता है और शरीर का ममत्व और कषायादि विकारी भावों की तन्मयता का त्याग करना आभ्यन्तरोपाधि व्युत्सर्ग कहलाता है।

बाह्य-व्युत्सर्ग के भी चार प्रकार बतलाए गए हैं :

शरीरव्युत्सर्ग– इसका अपर नाम कायोत्सर्ग है। कुछ समय के लिए शरीर से ममत्व को हटा लेना कायोत्सर्ग कहलाता है।

गणव्युत्सर्ग– गण का अर्थ सामान्यतया समूह हेतु ग्रहण किया जाता है। परन्तु यहाँ पर गण एक या एकान्तता का बोधक है। साधना के लिए सामूहिक जीवन को छोड़कर एकान्त में अकेले साधना करना गणव्युत्सर्ग कहलाता है।

उपधिव्युत्सर्ग– संयम-साधना में शास्त्रोक्त आवश्यक मर्यादानुसार वस्त्र, पात्रादि मुनि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का त्याग करना अथवा उनमें न्यूनता करना, उपधिव्युत्सर्ग कहलाता है।

भक्तपानव्युत्सर्ग– भोजन पानी आदि का त्याग करना भक्तपानव्युत्सर्ग कहलाता है। यह अनशन का ही पर्याय है।

अभ्यन्तरव्युत्सर्ग

अभ्यन्तरव्युत्सर्ग के भी तीन प्रकार हैं :

कषायव्युत्सर्ग– क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चारों कषायों का त्याग करना कषायव्युत्सर्ग कहलाता है।

संसारव्युत्सर्ग– प्राणीमात्र के प्रति राग द्वेष की समस्त प्रवृत्तियों

का त्यागकर, सबके प्रति समत्वभाव धारण करना संसारव्युत्सर्ग कहलाता है।

कर्मव्युत्सर्ग– शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रवृत्तियों का निरोध करना कर्मव्युत्सर्ग कहलाता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अनशन से लेकर व्युत्सा पर्यन्त बारह तपों की एक निर्बाध श्रृंखला है। जैनाचार्यों की इस तप-साधना की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि निर्बल से निर्बल और समर्थ से समर्थ व्यक्ति भी अपनी साम्यर्थानुसार, बल और पुरुषार्थ के अनुसार इस तपोमार्ग पर अग्रसरित हो सकता है। इस तरह तप की सरल से सरलतम साधना भी जैनाचार्यों ने बतलाई है तथा शनैः शनैः तन, मन सध जाने पर कठोर दीर्घ उपवास, ध्यान और कायोत्सर्ग तप की साधना के माध्यम से साधक को तप की उच्चतम कोटि तक पहुंचने की विधि बताई गई है। इसी प्रकार से जैन योग में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि और समाधि के विभिन्न प्रकारों की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है।

अतः हम कह सकते हैं कि पतंजलि के योगदर्शन के अनुसार ही जैनदर्शन में भी योग के आठ अंगों की साधना को अनेक प्रकार से परिभाषित किया है अनेक प्रकार से दर्शाया गया है और अनेक प्रकार से प्रयोग में लाने के लिए अनेक विधियों का प्रतिपादन किया है। जैन धर्म में अनेकों पद्धतियों द्वारा ध्यान कराया जाता है।

बौद्धदर्शन में योग का स्वरूप

भारतीय दार्शनिक परम्परा में बौद्ध दर्शन को नास्तिक दर्शनों में समाहित किया जाता है। इसके प्रवर्तक महात्मा बुद्ध हैं, इनका समय छठी शताब्दी है। जो जैनदर्शन के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के समकालीन हैं। गौतम बुद्ध का जीवन नितान्त प्रख्यात है। भगवान् बुद्ध स्वयं मार्ग का अन्वेषण कर समाधिस्थ होकर अपनी प्रज्ञा से बोधितत्त्व को प्राप्त किया। सारनाथ में कौण्डिन्य आदि पंचवर्गीय पंच भिक्षुओं के सामने अपना प्रथम उपदेश देकर इन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया।

गौतम बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण उपदेश जनसाधारण को मगधी भाषा में दिया। गौतम बुद्ध के समस्त उपदेशों को त्रिपिटक में संग्रह किया गया है। त्रिपिटक को आरम्भिक बौद्ध दर्शन का मूल और प्रामाणिक आधार कहा जा सकता है। यह ग्रंथ पाली भाषा में लिखा गया है, इस ग्रंथ में भगवान् बुद्ध द्वारा बुद्धत्त्व प्राप्त करने के समय से महापरिनिर्वाण तक दिए हुए प्रवचनों को संग्रहित किया गया है। त्रिपिटक शब्द का अर्थ तीन पिटारियाँ है। इस प्रकार त्रिपिटक बुद्ध शिक्षाओं की तीन पिटारियाँ हैं। जो इस प्रकार है : सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक तथा विनय पिटक नामक हैं। सुत्तपिटक में धर्म सम्बन्धी बातों की चर्चा है, अभिधम्म पिटक में बुद्ध के दार्शनिक विचारों का संकलन है तथा विनय पिटक में नीति-सम्बन्धी बातों की चर्चा है। त्रिपिटक की रचना का समय तीसरी शताब्दी ई.पू. माना गया है। कुछ दार्शनिकों का मत है की त्रिपीटक का रचनाकाल ईसा पूर्व 100 से ईसा पूर्व 500 है।

श्वासोच्छ्वास

बोधिसत्व की प्राप्ति होने से पूर्व भगवान् बुद्ध श्वासोच्छ्वास के निरोध का प्रयत्न करते थे। अंगुत्तरनिकाय में कहा गया है कि बुद्ध अपने शिष्य अग्गिवेस्सन से कहते हैं कि मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था; इसलिए मैं मुँह, नाक एवं कान में से निकलते हुए सांस को रोकने का, उसे निरोध करने का प्रयत्न करता रहा। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्वासोच्छ्वास की उक्त प्रक्रिया से बुद्ध को समाधि की प्राप्ति नहीं हुई। इसलिए बोधिसत्त्व की प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने हठयोग का त्यागकर मध्यम प्रतिपदा के द्वारा अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश दिया जिसमें समाधि को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। बुद्ध दर्शन के धम्मपद नामक ग्रंथ में योग को ज्ञान प्राप्ति का साधन स्वीकृत किया गया है।[1]

बुद्ध के शिक्षाओं का ध्येय क्लेशबहुल प्रपंच से उद्धार पाने के लिए सरल आचार-मार्ग का निर्देश करना था। कर्त्तव्य शास्त्र के विषय

1. धम्मपद, गाथा 282

में बुद्ध ने इन चार आर्य-सत्यों का अपनी सूक्ष्म विवेक बुद्धि से रहस्योद्घाटन किया है : 1. दुःखम्, 2. दुःखसमुदायः, 3. दुःखनिरोधः तथा 4. दुःख निरोधगामिनीप्रतिपत्।

1) **(दुःखम्)** इस संसार में जीवन दुःखों से परिपूर्ण है,

2) **(दुःख समुदाय)** इन दुःखों का कारण विद्यमान है,

3) **(दुःख निरोधः)** इन दुःखों से वास्तविक मुक्ति मिल सकती है, तथा (4) **(दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपत्)** इस निरोध-प्राप्ति के लिए उचित उपाय भी है। इन्हीं सत्यों के सम्यक् ज्ञान के कारण बुद्ध को सम्बोधि प्राप्त हुई। इन सत्यों का नाम आर्यसत्य है अर्थात् वह सत्य जिन्हें आर्य (श्रेष्ठ) लोग ही भलीभांति जान सकते हैं। बौद्ध धर्म में ये चार आर्य-सत्य प्रत्येक साधकों के लिए साधना से पूर्व आवश्यक माना गया है। ये चार आर्य-सत्य बौद्ध धर्म के सार हैं। बुद्ध ने चार आर्य-सत्यों की महत्ता को स्वयं मज्झिम निकाय में स्पष्ट किया है : "इन (चार आर्य सत्यों से) अनासक्ति, वासनाओं का नाश, दुःखों का अन्त, मानसिक शान्ति, ज्ञान, प्रज्ञा तथा निर्वाण सम्भव हो सकते हैं।" चार आर्य-सत्यों पर अत्यधिक जोर देना बुद्ध के व्यवहारवाद का प्रमाण कहा जा सकता है। अब यहाँ चार आर्य-सत्यों का विवेचन किया जाता है।

चार आर्य-सत्य

दुःख– बुद्ध का प्रथम आर्य सत्य दुःख है। यह संसार दुःखमय है। बुद्ध ने इस निष्कर्ष को जीवन की विभिन्न अनुभूतियों के गहरे विश्लेषण से सत्य माना है। जीवन में अनेक प्रकार के दुःख हैं। रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, चिंता, असन्तोष, नैराश्य, शोक आदि सांसारिक दुःखों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस सिलसिले में बुद्ध के ये कथन; जो दुःखों की व्यापकता को प्रमाणित करते हैं। उल्लेखनीय है कि जन्म में दुःख है, नाश में दुःख है, रोग दुःखमय है तथा मृत्यु दुःखमय है। अप्रिय से संयोग दुःखमय है, प्रिय से वियोग दुःखमय है। संक्षेप में रोग से उत्पन्न पंचस्कन्ध दुःखमय है। यहाँ पर शरीर, अनुभूति, प्रत्यक्ष, इच्छा और

विचार को बौद्ध-दर्शन में पंचस्कन्ध माना जाता है।

दु:ख समुदय– बुद्ध का द्वितीय आर्य सत्य दु:ख समुदय है। समुदय का अर्थ है-कारण। अत: दूसरा सत्य है-दु:ख का कारण। बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं होता। कार्य-कारण का नियम अच्छेद्य है। दु:ख का हेतु तृष्णा है। बुद्ध के शब्दों में दूसरे आर्य सत्य का वर्णन मज्झिमनिकाय में इस प्रकार है : हे भिक्षुगण! दु:खसमुदय दूसरा आर्य सत्य है। दु:ख का वास्तव हेतु तृष्णा है) जो बार-बार प्राणियों को उत्पन्न करती है। विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करने वाली है। यहाँ और वहाँ सर्वत्र अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है : कामतृष्णा, भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा। संक्षेप में दुख समुदाय का यही स्वरूप है।

परन्तु इस दु:ख के उत्पत्ति के लिए केवल एक ही कारण नहीं है, प्रत्युक्त कारणों की एक लम्बी श्रृंखला है जो द्वादश निदान के नाम से जाना जाता है। ये द्वादश निदान हैं : (1) जरामरण, (2) जाति, (3) भव, (4) उपादान, (5) तृष्णा, (6) वेदना, (7) स्पर्श, (8) षडायतन, (9) नामरूप, (10) विज्ञान, (11) संस्कार तथा (12) अविद्या। इन्हीं द्वादश निदानों का दूसरा नाम 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है; जो बौद्ध धर्म का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इसका अर्थ है : किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है : जरामरण का कारण है जाति, जन्म लेना, जाति का कारण है भव, अर्थात् पुनर्जन्म उत्पन्न करने वाले कर्म ही भव कहते है : **यद् भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भाव:।**[1]

भव उत्पन्न होता है उपादान से- आसक्ति से। उपादान अनेक प्रकार के होते हैं : कामोपादान (स्त्री में आसक्ति), शीलोपादान (व्रतों में आसक्ति)। और इनसे कहीं बढ़कर है-आत्मोपादान **(आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति)**। आसक्ति पैदा होती है तृष्णा-इच्छा के कारण, वेदना तृष्णा की जननी है। वेदना का उद्गम स्थल है स्पर्श। स्पर्श

1. अभिधर्मकोश-3/24

उत्पन्न होता है षडायतन से, षडायतन का कारण है नामरूप, नामरूप की सत्ता विज्ञान पर प्रतिष्ठित है। यह विज्ञान संस्कार से उत्पन्न होता है; जो स्वयं अविद्या का कार्य है। इस प्रकार समस्त दुःख पुंजों का आदि कारण अविद्या ही है।

दुःखनिरोध

तृतीय आर्य-सत्य 'दुःख निरोध' है। द्वितीय आर्य-सत्य में बुद्ध ने दुःख के कारण को माना है। यदि दुःख के कारण का अन्त हो जाए, तो दुःख का भी अन्त अवश्य होगा। कारण की सत्ता पर ही कार्य की सत्ता अवलम्बित रहती है। यदि कारण परम्परा का निरोध कर दिया जाए, तो अपने आप से कार्य का निरोध हो जाएगा। मूलकारण अविद्या का विद्या के द्वारा निरोध कर देने पर दुःखनिरोध अवश्य हो जाता है। दुःखनिरोध को बुद्ध ने निर्वाण कहा है। निर्वाण के विषय में बुद्ध धर्म के सम्प्रदायों में बड़ा मतभेद है। परन्तु यहाँ इतना ही समझना पर्याप्त होगा कि 'निर्वाण' जीवनमुक्ति का ही बौद्ध संकेत है। अंगुत्तर निकायों में निर्वाण प्राप्त पुरुष की उपमा शैल से दी गई है। प्रचण्ड झंझावत पर्वत को स्थान से च्युत नहीं कर सकता। भयंकर आँधी के चलने पर भी पर्वत एकरस, अडिग, अच्युत बना रहता है। ठीक यही दशा निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की है।

सेलो यथा एकघनो वातेन म समीरति।
एवं रूपा, रसा, सद्दा, गन्धा, फरूसा च केवला।।
इठ्ठा धम्मा अनिष्ठा च, न पवेधेन्ति तादिनो।
ठितं चित्तं विष्णमुत्तं वसं यस्सानुपस्सति।।[1]

रूप, रस, गन्धादि विषयों के थपेडे उसके ऊपर लगातार पड़ते रहते हैं, परन्तु उसके शान्त चित्त को किसी प्रकार भी क्षुब्ध नहीं करते। आसवों से विरहित होकर वह पुरुष अखण्ड शान्ति का अनुभव करता है।

---

1. अंगुत्तर निकाय- 3/52

दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपत्

यह चतुर्थ आर्य-सत्य है। दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपत् दु:खनिरोध तक पहुँचाने वाला मार्ग है। इस मार्ग को दु:खनिरोध मार्ग कहा जाता है। इसी मार्ग को बौद्ध धर्म में आर्य अष्टांगिक मार्ग कहा गया है। ये आठ अंग हैं : (1) सम्यक् ज्ञान, (2) सम्यक् संकल्प, (3) सम्यक् वचन, (4) सम्यक् कर्म, (5) सम्यक् आजीव, (6) सम्यक् व्यायाम, (7) सम्यक् स्मृति तथा, (8) सम्यक समाधि।

अयमेव अरियो अट्ठगिको मग्गो
संय्यथीदं-सम्मादिट्ठि, सम्मासंकप्पो,
सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो,
सम्मावायामो, सम्मपासती, सम्मासमाधि॥[1]

इस अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा उत्पन्न होती है और निर्वाण की सद्य: प्राप्ति हो जाती है। इन आठों अंगों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :

1. **सम्यक् (दृष्टि) :** बुद्ध ने दु:ख का मूलकारण अविद्या को माना है। अविद्या के फलस्वरूप मिथ्याज्ञान का प्रादुर्भाव होता है और मिथ्याज्ञान के कारण अवास्तविक वस्तु को वास्तविक समझा जाता है। जो आत्मा नहीं है, उसे आत्मा मान लेता है। मिथ्या-दृष्टि का अन्त सम्यक् दृष्टि (ज्ञान) से ही सम्भव है। सम्यक् दृष्टि का अर्थ बुद्ध के चार आर्य-सत्यों का यथार्थ ज्ञान है।
2. **सम्यक् संकल्प–** बुद्ध के चार आर्य-सत्यों का जीवन में पालन करने का निश्चय ही सम्यक् संकल्प है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जो अशुभ है; उसे न करने का संकल्प ही सम्यक् संकल्प है।
3. **सम्यक् वचन–** सत्य और प्रिय वचनों का प्रयोग ही सम्यक् वचन है। मृषा वचन, पैशून्य वचन, कर्कश वचन एवं अनर्थ पूर्ण

1. संयुक्त निकाय-5/2

वचनों से विरति होना सम्यक् वचन है।

4. **सम्यक् कर्म–** अशुभ कर्मों के निरोधपूर्वक निर्वाण प्राप्ति में सहायक कर्मों का अनुष्ठान करना ही सम्यक कर्म है। बुद्ध के अनुसार बुरे कर्म तीन हैं : हिंसा, स्तेय, और इन्द्रियभोग। इन तीनों बुरे कर्मों का त्याग करना ही सम्यक् कर्म कहा जाता है।
5. **सम्यक् आजीव–** किसी को बिना पीड़ा पहुँचाते हुए न्यायपूर्ण रीति से जीविकोपार्जन करना ही सम्यक आजीव है।

यथापि भमरो पुटर्फ वण्णगन्धं अहढ़ेयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनि चरे।।[1]

झूठी जीविका को छोड़कर सच्ची जीविका के द्वारा शरीर का पोषण करना सम्यक आजीव है।

6. **सम्यक् व्यायाम–** इन्द्रियों पर संयम, बुरी भावनाओं को रोकने और अच्छी भावनाओं को उत्पन्न करना तथा अच्छी भावनाओं को कायम रखने का प्रयास व्यायाम हैं।
7. **सम्यक् स्मृति–** काय, वेदना, चित्त तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानना तथा उसकी स्मृति सदा बनाये रखना सम्यक् स्मृति कहलाता है।
8. **सम्यक् समाधि–** एकाग्रचित्त द्वारा तत्त्वों की भावना ही समाधि है। समाधि से उत्पन्न प्रज्ञा द्वारा तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है।

बुद्ध के आर्याष्टांगिक मार्ग को शील, समाधि एवं प्रज्ञा इन तीन भागों में विभाजित किया गया है; जो कि बौद्ध धर्म में शिक्षात्रय के नाम से प्रसिद्ध है। यह शिक्षात्रय, योगांगो में अष्टांग योग को प्रदर्शित करता है।

आसन एवं प्राणायाम का स्वरूप

यह कर्मस्थान अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः इसे कोलाहल से रहित निर्जन प्रदेश में ही सम्पन्न किया जा सकता है। आचार्य के पास जाकर,

1. धम्मपद, पुष्फवग्ग गाथा 6

कर्मस्थान योग्य स्थल को पूछकर, आचार्य द्वारा बताये गये स्थान पर ही आसन लगाना चाहिए। इस कर्मस्थान को प्रारम्भ करते हुए भिक्षु को पर्यंकबद्ध होकर शरीर के ऊपरी भाग को सीधा करके बैठना चाहिए। इस प्रकार के आसन से योगी को वेदना नहीं होती एवं चित्त सुगमतया एकाग्र हो जाता है :

तत्थ पल्लंकति समन्ततो उरूबद्धासन। आमुजित्वा तिबन्धित्वा। तासु अनुप्पज्जमानासु चित्त एकग्गं होति।।[1]

चित्त की एकाग्रता होने के पश्चात् योगी स्मृतिपूर्वक दीर्घ एवं सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास करता है। आश्वास-प्रश्वास की दीर्घ-ह्रस्वता का काल निमित्त होती है। भिक्षु नव प्रकार से आश्वास-प्रश्वास की क्रिया को स्मृतिपूर्वक सम्पादन करता हुआ कायानुपश्यना स्मृति उपस्थान की भावना करता है। भिक्षु आश्वास-प्रश्वास के क्रम सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम आश्वास-प्रश्वास दोनों क्रियाओं को दीर्घ काल तक करता है। इस भावना के द्वारा प्रामोद्य की उत्पत्ति होती है। प्रामोद्य भावना के उत्कर्ष से क्रमपूर्वक श्वास-प्रश्वास अत्यन्त सूक्ष्मभाव को प्राप्त होते हैं।

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं स्वरूप

भिक्षु नव प्रकार से लम्बा आश्वास-प्रश्वास कर रहा हूँ जानता हुआ कायानुपश्यना, स्मृति उपस्थान की भावना करता है। इस भावना द्वारा भिक्षु यह जान लेता है कि यह शरीर अनित्य, अशुचि एवं अनात्मभावरूप है। तब इस भावना द्वारा भिक्षु कार्य में अहंभाव, ममभाव न देखकर कार्य को कायमात्र ही समझता है। यही स्मृतिपूर्वक काय की अनुपश्यना की जाती है, अतः इस भावना को कायानुपश्यना स्मृति उपस्थान कहा जाता है। इस प्रकार की भावना से आश्वास-प्रश्वास इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि उनके अस्तित्व का भी बोध नहीं होता। फलस्वरूप काय एवं चित्त शान्त हो जाते हैं। अनुबन्धना (आश्वास-प्रश्वास को निरन्तरता बनाये रखने का अभ्यास) के निरन्तर अभ्यास से अर्पणा हेतु चित्त एकाग्र होता है। तत्पश्चात् अनुबन्धना, स्पर्श एवं स्थापना तीनों द्वारा

1. विसुद्धिमग्गो- 8/100

धर्मस्थान (ध्यान) की भावना की जाती है। इस भावना के फलस्वरूप प्रतिभाग निमित्त का उदय होता है। यह प्रतिभाग निमित्त सबका एक सदृश नहीं होता है। अट्ठ कथाओं के अनुसार यह तारे की प्रभा, मार्ग मुक्ता, कर्कशस्पर्श वाला कपास का बीज, लकड़ी के हीर से निर्मित सुई, पामंग धागा, पुष्पमाला, अग्नि, मकड़ी की जाला, मेघघटा, पद्म पुष्प, रथ चक्र, चन्द्रमण्डल एवं सूर्यमण्डल के सदृश दृष्टिगोचर होता है।

समाधि का स्वरूप

उक्त परम्परा में भी योग का अर्थ समाधि या ध्यान से लिया गया है। समाधि को परिभाषित करते हुए बोधिचर्यावतार और विसुद्धमग्गो में कहा गया है कि कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि कहलाती है : **चित्तैकाग्रतालक्षणः समाधिः**[1] अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। एक अन्य दृष्टि से कहा गया है कि समाधानमिति समाधिः एकारम्मणे **चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधान ठपन ति वुत्त होति।**[2] **ये केचि कुसला धम्मा सब्बे ते समाधिप्रमुखा होन्ति समाधि निन्ना**[3] अर्थात् जब चित्त किसी कुशल आलम्बन में विक्षेप अथवा चाञ्चल्य का त्याग कर एकाग्र हो जाता है, तो चित्त की उस एकाग्रता को समाधि कहते हैं। जिसका मात्र एक आलम्बन होता है, उसे एकाग्र कहते हैं और उसका भाव एकाग्रता कहलाता है। चूँकि सभी कुशल धर्म समाधि में स्थापित होते हैं, अतः समाधि को प्रमुखतया स्वीकृत किया गया है। यहाँ पर एक दृष्टान्त दिया जाता है कि जिस प्रकार किसी ऊँची इमारत की सभी सीढ़ियाँ सबसे ऊपरवाली मंजिल की ओर ही ले जाने वाली होती हैं, ऊपर जाकर ही वे समाप्त होती हैं। उसी प्रकार जितने प्रकार जितने भी कुशल धर्म हैं, वे सभी समाधि की ओर ही ले जाते हैं।

---

1. बोधिचर्यावतार-8/4, विसुद्धिमग्गो, खण्ड 1, पृष्ठ 188
2. अभिधम्मत्थसंगहो (टीका) भाग-1, पृष्ठ 106
3. मिलिन्दपज्ज, पृष्ठ 2 9-30

भगवान् बुद्ध ने योगसाधना को आत्मा की शुद्धि करने वाली क्रियाएँ स्वीकृत किया है; जिनसे आत्मा का उत्तरोत्तर विकास होता है और वह मोक्ष की ओर अग्रसर होती है। अतः यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि बौद्ध योगसाधना का मुख्य सम्बन्ध समाधि से है। समाधि दो प्रकार की होती है : (1) रूप समाधि, (2) अरूप समाधि।

रूप समाधि

रूपवान् विषय जिस समाधि का आलम्बन होता है, उसे रूपसमाधि की संज्ञा दी गयी है। यह चार भागों में विभक्त है। प्रथम रूपसमाधि में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता- ये ध्यानांग विद्यमान रहते हैं। परन्तु इसमें वितर्क एवं विचार की प्रधानता रहती है।

कत्थ वितक्कनं वितक्को, ऊहनं ति वुत्तो होति[1]

अभ्यास के कारण वितर्क-विचारों के उपशम द्वारा चित्त की एकाग्रता से युक्त प्रीति सुख वाला द्वितीय रूपसमाधि उत्पन्न होता है। इस ध्यान में प्रीति, सुख एवं एकाग्रता ये तीन अंग निहित होते हैं।

द्वितीय ध्यान के सिद्ध होने के उपरान्त उसकी दृढता के लिए पंचवशी का अभ्यास करके द्वितीय ध्यान को दृढ़ करने के पश्चात् द्वितीय ध्यान वितर्क एवं विचार का समीपवर्ती है एवं वहाँ चित्त स्थूल प्रीति से युक्त होने के कारण हर्षोत्फुल्ल रहता है। अतः यह ध्यान भी दुर्बल एवं स्थूल है; ऐसा विचार कर द्वितीय ध्यान से विरक्त हो तृतीय ध्यान का अनुष्ठान किया जाता है। सुख एवं एकाग्रता इस ध्यान के दो अंग है।

तृतीय ध्यान को दृढ़ करने के पश्चात् चतुर्थ ध्यान के अनुष्ठान का विधान है। साधक विचार करता है कि तृतीय समापत्ति विपक्षी प्रीति के समीप है प्रीति का सुख स्थूल है। इस प्रकार सुख से स्थूल होने से एवं अंगो के दुर्बल होने से तृतीय ध्यान त्याज्य है, ऐसा विचार कर चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति का निश्चयकर चतुर्थ ध्यान की भावना करता है।

---

1. विसुद्धिमग्गो- 4/75

अरूप समाधि

चार रूपध्यानों की प्राप्ति होने पर और ऊँची भूमि में प्रतिष्ठित होने हेतु अरूप समाधि की भावना करनी चाहिए। जब साधक चतुर्थ रूप ध्यान का अतिक्रमण कर वहाँ स्थित प्रतिभाग निमित्त में स्थित कसिण रूप के भी निवारण कर देता है, तब अरूप समाधि की सिद्धि होती है। अरूप समाधि की सिद्धि से सभी प्रकार के रूपों का अतिक्रमण हो जाता है। अरूप समाधि चार प्रकार की होती है : (1) आकाशनन्त्यायतन, (2) विज्ञानानन्त्यायतन, (3) आकिंचन्यायतन एवं (4) नैवसंज्ञानासज्ञायतन।

सारांश

भगवान् बुद्ध ने स्वयं योगमार्ग का अन्वेषणकर समाधिस्थ होकर अपनी प्रज्ञा से बोधितत्त्व को प्राप्त किया। सारनाथ में कौण्डिन्य आदि पंचवर्गीय पंच भिक्षुओं के सामने अपना प्रथम उपदेश देकर इन्होंने धर्म चक्र का प्रवर्तन किया। गौतम बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण उपदेश जनसाधारण को मागधी भाषा में दिया। गौतम बुद्ध के समस्त उपदेशों को त्रिपिटक में संग्रह किया गया है।

बुद्ध की शिक्षाओं का ध्येय क्लेश-बहुल प्रपंच से उद्धार पाने के लिए सरल आचार-मार्ग का निर्देश करना था। कर्त्तव्यशास्त्र के विषय में बुद्ध ने इन चार आर्य सत्यों का अपनी सूक्ष्म विवेक बुद्धि से रहस्योद्घाटन किया है : **1. दु:खम्, 2. दु:खसमुदय:, 3. दु:खनिरोध: 4. दु:ख निरोधगामिनीप्रतिपत्,** के अंतर्गत ही आर्य अष्टांगिक मार्ग का निर्देशन किया है। इस प्रकार बौद्धदर्शन में क्रमश: समाधि के प्रकार, समाधि के बाधक तत्त्व, सम्यग्तप, तप के प्रकार, त्रिविध योग, शील तथा शील के प्रकार, प्रज्ञा, शमथभावना, दस अशुभ, दस अनुस्मृतियाँ, चार ब्रह्मविचार, चार आरूप्य, आहार में प्रतिकूल संज्ञा, चतुर्धातु व्यवस्था, विघ्न परिहार, कल्याण-मित्र की सेवा तथा विपश्यनादि का सुन्दर वर्णन किया गया है। अत: यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि बौद्धदर्शन में योग का विस्तृत वर्णन किया गया है।

वेदान्त में योग का स्वरूप

वेदान्त का अर्थ-

'वेदान्त' शब्द का अर्थ है : वेद का अंत; अर्थात् वेदों का या वैदिक साहित्य का अंतिम भाग होने के कारण उपनिषदों को वेदांत कहा जाता था। वैदिक साहित्य चार भागों में विभक्त है : 1. संहिता, 2. ब्राह्मण, 3. आरण्यक और 4. उपनिषद्। इन चारों भागों में वेदो के ज्ञान का ही विस्तार है। वेद का अन्तिम भाग होने के कारण प्रारम्भ में उपनिषदें ही 'वेदान्त' शब्द से जानें जाते थे। कालान्तर में उपनिषदों के आधार पर जिन दार्शनिक सिद्धान्तों या दर्शनों का विकास हुआ वे सभी भी वेदान्त कहे जाने लगे। उपनिषदों को वेदान्त कहे जाने के कई कारण है।

1. ऊपर निर्देश किया गया है कि वेद का विभाजन चार भागों में किया जाता है। उपनिषदें इस विभाजन का अन्त हैं। अत: उन्हें 'वेदान्त' कहा गया है।
2. अध्ययन और प्रयोग की दृष्टि से भी वेदान्त जीवन के अन्त में पठनीय एवम् आदरणीय वेद का भाग हैं। अत: उन्हें 'वेदान्त' कहा जाता है। ब्रह्मचर्यावस्था में संहिता कण्ठस्थ करने का, गृहस्थावस्था में ब्राह्मण-प्रतिपाद्य कर्मकाण्ड के आचरण का, वानप्रस्थ की दशा में आरण्यक-अध्ययन का तथा संन्यास की स्थिति में जगत् का रहस्य एवं जीवन का उद्देश्य समझने के लिये उपनिषदों के मनन एवं आचरण का विधान था। इसलिये भी उपनिषदें वेदान्त है। उपनिषद् को परा विद्या कहते हैं; जबकि संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक को अपरा विद्या कहते हैं। प्रधानरूप से उपनिषदों को वेदान्त कहते हैं। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता को वेदान्त की प्रस्थानत्रयी कहा जाता है।

ब्रह्मसूत्र की रचना

वेदान्त दर्शन का आधार बादरायण का ब्रह्मसूत्र कहा जाता

है। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के विचारों में सामंजस्य लाने के उद्देश्य से ही लिखा गया था। उपनिषदों की संख्या अनेक थी, भिन्न-भिन्न कालों और भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाले उपनिषदों की रचानाएं हुईं। इन औपनिषदिक सिद्धान्तों के विरोधों को दूर करने के लिये तथा इनमें परस्पर एकवाक्यता की सिद्धि के लिये बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की।

वेदान्त के सम्प्रदाय

महर्षि बादरायण ने उपनिषदों में एकमत्य स्थापित करने के साथ-साथ वेदान्त के ऊपर किये गये आक्षेपों का निराकरण भी किया है। उनके सूत्र अति संक्षिप्त हैं। इन सूत्रों पर अनेक आचार्यो ने भाष्य किया है। इस प्रकार जिन आचार्यों ने जो भी भाष्य किया वे उसी सम्प्रदाय के आचार्य कहलाये या उस सम्प्रदाय के प्रवर्तक बन गये; जैसे

1. **अद्वैतवाद (Non&Dualism)**- अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं।
2. **विशिष्टाद्वैत (Qualified Monism)**- विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुज हैं।
3. **द्वैतवाद (Dualism)**- द्वैतवाद के प्रवर्तक मध्वाचार्य हैं।
4. **द्वैताद्वैत (Dualism Cum Non & Dualism)**- द्वैताद्वैत के प्रवर्तक निम्बार्काचार्य हैं।
5. **त्रैतवाद**- त्रैतवाद के प्रवर्तक महर्षि दयानंद सरस्वती हैं।

अद्वैतवाद– अद्वैतवाद अर्थात् जिसमें दूसरा वाद नहीं है। वाद का तात्पर्य तत्त्व से है अर्थात् जीव और ब्रह्म-दोनों एक ही माने जाते हैं, उसे अद्वैतवाद कहते हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद– विशेष रूप से एक ही होना, उसमें अलग नहीं होना है; अर्थात् जीव और ब्रह्म या आत्मा और ब्रह्म एक ही है; अलग-अलग नहीं है, उसे विशिष्टाद्वैतवाद कहते हैं।

द्वैतवाद– द्वैतवाद जिसमें दो तत्त्व है; अर्थात् दो वाद हैं : जीव और ब्रह्म जिसमें अलग-अलग माने जाते हैं, वह द्वैतवाद कहलाता है।

द्वैताद्वैत में दो तत्त्वों को मानता है। इसमें जीव और ब्रह्म एक साथ भी माने जाते हैं और जीव और ब्रह्म-दोनों को अलग-अलग भी माना जाता है। इसलिए इसको द्वैताद्वैत कहते हैं।

इस प्रकार आचार्य शङ्कर, रामानुज, मध्व, वल्लभ तथा निम्बार्क आदि के नाम पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बने; जो आज भी चल रहे हैं।

त्रैतवाद- महर्षि दयानंद सरस्वती

भारतीय संस्कृति में एक महान् दार्शनिक हुए हैं; जिन्हें हम महर्षि दयानंद सरस्वती के नाम से जानते हैं, जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। वह त्रैतवाद को मानते हैं। वह कहते हैं : ईश्वर, जीव और प्रकृति- तीनों ही अनादि सत्ताएँ हैं। इसलिए इनके मंतव्य को त्रैतवाद कहते हैं।

वेदान्त

माया अथवा अविद्या– अद्वैत मतावलम्बियों के अद्वैत भाव की कल्पना तब तक नहीं बन सकती, जब तक माया की कल्पना न की जाए। आचार्य शङ्कर के दर्शन में अज्ञान, माया और अविद्या-ये तीनों प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है। तीनों का अर्थ प्राय: एक ही होता है। जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य है, उसी प्रकार माया और अविद्या में भी अभिन्न है। आचार्य शङ्कर ने माया, अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, नाम-रूप, अव्यक्त और मूलप्रकृति आदि शब्दों का प्राय: एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। परन्तु बाद के वेदान्तियों ने माया और अविद्या में भेद किया है।

दोनों में भेद– उपर्युक्त अनुसार माया और अविद्या में भेद न होने पर भी बाद के वेदान्तियों ने इन दोनों में सूक्ष्म भेद दिखलाने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि माया में मुख्य रूप से विक्षेप शक्ति विद्यमान रहती है। वह विक्षेप शक्ति प्रधान है : **'विक्षेपशक्तिप्रधाना माया'**।[1] इसी शक्ति के सहारे वह ब्रह्माण्डान्त सकल जगत् की संरचना

1. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 84 (अच्युत-ग्रन्थ-माला)

क्षणभर में कर सकती है। इन लोगों ने अविद्या का लक्षण करते हुए लिखा है कि **किसी वस्तु के यथार्थरूप को ढकने की जो शक्ति है उसे अवद्यिा कहते हैं।** यह आवरणशक्ति प्रधान होती है अथवा जिसमें मलिन सत्त्व की प्रधानता रहती है; वह अविद्या है। माया अपने आश्रय को मोह में नहीं डालती, किन्तु अविद्या अपने आश्रय को मोहित करने वाली है; यह भी दोनों में भेद है।

ब्रह्म या ईश्वर विचार– शङ्कर के मत में ब्रह्म के दो रूप होते हैं– **विश्वगत तथा विश्वातीत।** विश्वरूप में वह गुणसम्पन्न माना जाता है और **विश्वातीत रूप में वह अनिर्वचनीय** है; क्योंकि उसमें किसी गुण की सत्ता नहीं स्वीकार की जाती। अतः वह निर्गुण है। माया को धारण कर गत सृष्टि आदि कार्यो में जब ब्रह्म प्रवृत्त होता है, तब वह सगुण साकार कहलाता है। इसे ही ईश्वर कहते हैं। ईश्वर जगत् का स्वामी तथा नियन्ता है। भक्तों पर अनुग्रह करना इसी का कार्य हैं। इसीलिये जीव उसकी उपासना करता है और उसे दया तथा अगाध करुणा आदि गुणों से मण्डित मानता है।

नेति- आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म की जिन विशेषताओं को बतलाया है, उनमें से प्रमुख - **नेति का भाव।** ब्रह्म को **अनिर्वचनीय** बतलाना। ब्रह्म को शब्दों के माध्यम से किसी परिभाषा के द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता। उसे वाणी का वर्ण्य विषय नहीं बनाया जा सकता। ब्रह्म को भावात्मक रूप से जानना भी संभव नहीं है। हम यह नहीं जान पाते कि ब्रह्म क्या है? इसके स्थान पर हम यह जान पाते हैं कि ब्रह्म क्या नहीं है। इसीलिये उपनिषद् में ब्रह्म को नेतिनेति कहकर निषेध मुख से इङ्गित किया गया है (निर्दिष्ट किया गया है।)

ईश्वर स्वतन्त्र है– वही निर्विशेष ब्रह्म माया शक्ति को धारण करने पर अथवा माया के द्वारा आवृत होने पर जब सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ है। वह स्वतन्त्र है। वह एक है। वह अन्तर्यामी है। ईश्वर नित्य और अपरिवर्तनशील है। माया ईश्वर की शक्ति है; जिससे वह सकल ब्रह्माण्ड की रचना करता है। श्रुतियों का कथन है कि विश्व का प्रथम कारण ईश्वर है।

विश्व का कारण होने पर भी वह अकारण है, उसका कोई कारण नहीं है।

आत्मविचार– अन्तःकरणरूप उपाधि से विशिष्ट समान **अन्तः करणावच्छिन चैतन्यः** ही जीव कहा जाता है। आचार्य शङ्कर की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को जीव कहते हैं **: अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्ज-राध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी।**[1]

आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है– शङ्कराचार्य अद्वैतवाद में कहते हैं कि एक विषय से दूसरे विषय का भेद, ज्ञाता और ज्ञेय का भेद, जीव और ब्रह्म का भेद यह सब माया का कार्य है; वास्तविक नहीं है। जब व्यक्ति को शरीर की नश्वरता का यह बोध हो जाता है, तब उसकी दृष्टि में आत्मा और ब्रह्म में कुछ भी भेद नहीं रह जाता। वेदान्तदर्शन, में चार महावाक्य माने गये हैं। ये चारों इस प्रकार हैं **: 1. प्रज्ञानं ब्रह्म**[2], **2. अहं ब्रह्माऽस्मि**[3], **3. 'तत्त्वमसि**[4] तथा **अयमात्मा ब्रह्म**[5]-इन महावाक्यों के आकर ग्रन्थ क्रमशः चारों वेदों से सम्बद्ध है। इन चारों के द्वारा आत्मा और ब्रह्म की एकता का बोध कराया जाता है।

त्रिविध शरीरः-

1. कारणशरीर
2. सूक्ष्मशरीर या लिंगशरीर
3. स्थूलशरीर

संसारावस्थापन आत्मा की संज्ञा जीव होती है। संसार-चक्र में आने पर जीव के तीन शरीर होते हैं। पहला शरीर कारण-शरीर है; जिसे अविद्या कहा जाता है। जीव की अविद्या ही उसका कारणशरीर है। दूसरा

---

1. ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य 1/3/17
2. ऐत० आ० 5/3
3. बृहदा० 1/4/10
4. छान्दोग्य० 6/8/7
5. माण्डूक्य 02

शरीर सूक्ष्मशरीर है और इसे लिंगशरीर भी कहते हैं। वेदान्त के अनुसार **सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म या लिंग शरीर** का निर्माण सत्रह अवयवों से होता है। ये अवयव हैं : पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु। सूक्ष्मशरीर तीन कोशों से युक्त होता है। ये कोश हैं : विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश और प्राणमय कोश। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि को लेकर विज्ञानमय कोश, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन मनोमय कोश, कर्मेन्द्रियों के साथ पाँच प्राण ही प्राणमय कोश हैं। ये तीनों कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। तीसरा शरीर स्थूल शरीर है। यह चौबीस तत्त्वों का बना होता है। स्थूल शरीर जाग्रत् अवस्था में कार्य करता है। स्वप्न की अवस्था में सूक्ष्म शरीर कार्यरत होता है। उस समय स्थूल शरीर चेष्टा शून्य होकर पड़ा रहता है। किन्तु सुषुप्ति में यह शरीर भी नहीं रहता। उस समय केवल कारण शरीर रहता है। स्थूल शरीर के पात के बाद भी सूक्ष्म शरीर बना रहता है। उस समय उसका नाश नहीं होता है। वह एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में संसरण करता रहता है। ज्ञान से जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तब सूक्ष्म और कारण शरीर भी समाप्त हो जाते हैं। फिर तो जीव मुक्त हो जाता है; अर्थात् जीवात्मा को मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

मुक्ति का स्वरूप– मुक्ति कहते हैं-प्राप्त की प्राप्ति को। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मुक्ति न तो उत्पन्न होती है और न पहले से अप्राप्त ही है। यह शाश्वत सत्य की अनुभूति है। यह वही सत्य है; जो सर्वदा, यहाँ तक कि बन्धन की अवस्था में भी विद्यमान रहता है। अध्यास ही दु:ख का हेतु बन्धन कहा गया है। यह अध्यास ही जीव को नित्य मुक्त आत्मा को ढक-सा लेता है। इससे आत्मा नित्यप्राप्त मुक्ति की अनुभूति नहीं कर पाती। वह संसारी बन दु:खी होकर फिरता रहता है। सारे अनर्थों की जड, बन्धन स्वरूप इस अध्यास (अध्यारोप, अज्ञान) की निवृत्ति ही मुक्ति है : **अस्यैवानर्थहेतोः समूलस्य बन्धात्मकस्य ... निवृत्तिमुक्तिरित्युक्ता।**[1]

1. अद्वैतमार्तण्ड, जम्बू संस्करण, पृ.22

मुक्ति के भेद– मुक्ति इस जीवन में भी मिल सकती है और इस जीवन के बाद भी। मुक्ति के बाद भी शरीर रह सकता है; क्योंकि यह शरीर प्रारब्ध कर्मों का फल है। इसी जीवन में मिलने वाली मुक्ति को **जीवन्मुक्ति** तथा शरीर छूटने के बाद मिलने वाली मुक्ति को **विदेहमुक्ति** कहते हैं। आत्म–साक्षात्कार हो जाने पर अविद्या तथा अविद्या का कार्यरूप समस्त संसार समाप्त हो जाता है। संयोग से यदि साधक योगी का शरीरपात उसी समय हो जाए, तब तो वह ब्रह्म में लीन हो जाता है; ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। किन्तु यदि प्रारब्ध कर्म के कारण उसका शरीरपात उस समय नहीं होता है, तो वह उस (प्रारब्ध कर्म) के क्षय–पर्यन्त शरीर धारण किये रहता है। ऐसी अवस्था में वह संसार–बन्धन से मुक्त ही रहता है। जीते जी जो यह मुक्ति मिलती है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं।

त्रिविध कर्म– अत्यावश्यक न होते हुए भी सुगमता के लिये यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं :

1. **सञ्चित कर्म अर्थात् पूर्वजन्म**- एकत्रित अनुपभुक्त कर्म।
2. **प्रारब्ध कर्म अर्थात् पूर्वजन्म**- वे कर्म जिनका फल इस जीवन में भोगा जा रहा है।
3. **क्रियमाण या संचीयमान कर्म–** ये वे कर्म हैं, जो इस जन्म में किये जा रहे हैं और जिनका फल आगे मिलने वाला है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर सञ्चित कर्म का नाश तथा क्रियमाण–कर्म के फल का निवारण किया जा सकता है। किन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश तो भोग के द्वारा ही होता है, जब भोग लेने के बाद प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते हैं; तब साधक शरीर का परित्याग कर देता है। उसके स्थूल और सूक्ष्म - दोनों प्रकार के शरीरों का अन्त हो जाता है।

सृष्टिविचार– उपनिषदों में जो सृष्टि का वर्णन प्राप्त होता है, उसका अर्थ यह है कि ब्रह्म की माया में समार बन जाता है। शंकर इस मत को मानते हैं और यह भी मानते हैं कि माया को ही कहीं–कहीं

अव्यक्त और प्रकृति भी कहा गया है। यह अव्यक्त या प्रकृति सत्त्व, रज और तम-इन तीन गुणों से युक्त है। यह त्रिगुणात्मिका है। किन्तु यह सांख्य की प्रकृति की भांति स्वतन्त्र नहीं है। वेदान्त अपनी माया को ही प्रकृति कहता है। यह प्रकृति ईश्वर पर ही पूर्णतः निर्भर है। यह उन्ही की शक्ति है।

पञ्चीकरण– उपनिषदों की भांति सभी वेदान्त-ग्रंथ भी इस बात को लेकर पूर्णतः एकमत नहीं है कि ब्रह्म ने माया के द्वारा किस प्रकार और किस क्रम में जगत् की उत्पत्ति हुई है। किन्तु सबसे प्रचलित एवं प्रसिद्ध मत यह है कि तमोगुण की प्रधानता से युक्त तथा विक्षेप-शक्ति वाले अज्ञान से उपहित चैतन्य (ईश्वर) से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। ये आकाश आदि ही सूक्ष्म भूत, तन्मात्राएं और अपञ्चीकृत (भूत या महाभूत) कहे जाते है। इनसे सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूत (अर्थात् पञ्चीकृत आकाश आदि महाभूत) उत्पन्न होते हैं।

पञ्चीकृत भूतों को स्थूलभूत कहते हैं। आकाश आदि पाँच सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक को बराबर दो भागों में विभक्त करके (इस प्रकार कुल एकत्रित) उन दश भागों में जो प्राथमिक पाँच भाग है; उनमें प्रत्येक को चार बराबर हिस्सों में बाँटकर (प्रत्येक के) उन चारों भागों को अपने अपने द्वितीय भाग को छोड़कर अन्य भूतों के द्वितीय आधे भाग में मिलाना ही पञ्चीकरण है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–

1. स्थूल आकाश= 1/2 आकाश+1/8 वायु+1/8 अग्नि+1/8 जल+1/8 पृथिवी।
2. स्थूल वायु= 1/2 वायु, 1/8 आकाश, 1/8 अग्नि+1/8 जल+1/8 पृथिवी।
3. स्थूल अग्नि=1/2 अग्नि+1/8 आकाश+1/8 वायु+1/8 जल+1/8 पृथिवी।

इसी प्रकार जल और पृथिवी के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

ऊपर के चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पञ्चीकरण हो जाने पर प्रत्येक स्थूलभूत का स्वरूप इस प्रकार का होगा : प्रत्येक स्थूलभूत में 1/2 भाग स्वयं उसका तथा शेष चार भूतो में से प्रत्येक का 1/8 भाग मिला हुआ होता है। यही है पञ्चीकरण प्रक्रिया। प्राणी का सूक्ष्म शरीर भूतों से बना है और स्थूल शरीर, सारे लोक, सकल ब्रह्माण्ड और अन्यान्य सारे सांसारिक विषय स्थूल भूतों से, जिन्हें पञ्चीकृत अथवा महाभूत कहते हैं, बने हैं। शङ्कराचार्य सृष्टि के इसी क्रम को मानते हैं। किन्तु वे इस सारी प्रक्रिया को विवर्त या अध्यास बतलाते है।

प्रलय का क्रम सृष्टि-क्रम के प्रतिकूल है। प्रलय की बेला में प्रत्येक पदार्थ अपने कारण में विलीन होते हैं। उस समय पृथिवी का जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में और आकाश का ईश्वर की माया में विलय होता है। यही है, अद्वैत वेदान्त कि सृष्टि-प्रक्रिया; जिसका वर्णन संक्षेप में यहाँ किया गया है।

तंत्र शास्त्रों में योग का स्वरूप

तंत्र योग या तन्त्र साधना बड़ी ही व्यापक व कठोर साधना मानी जाती है। तंत्र योगसाधना आज भिन्न-भिन्न रूपों में परिलक्षित हो रही है।

तन्त्र शब्द का उत्पत्ति और अर्थ

'तन्त्र' शब्द का उत्पत्ति संस्कृत भाषा की **'तन्' धातु** से है; जिसका अर्थ विस्तार होता है। **तन्यते विस्तार्यते ज्ञानं अनेन इति तन्त्रम्'** अर्थात् जिससे ज्ञान का विस्तार हो एवं जो रक्षा करे, वह 'तंत्र' है। तंत्र का संधि-विच्छेद करें, तो दो शब्द मिलते हैं= तं+त्र = तं-अर्थात् फैलाव और त्र अर्थात् बिना रुकावट के। ऐसा फैलाव या नेटवर्क जिसमें कोई रुकावट या विच्छेद न हो। संस्कृत भाषा में तन्त्र का अर्थ अन्धकार से प्रकाश की ओर उन्मुख करनेवाली विद्या तन्त्र है और मन को ऊर्ध्वमुखी वृत्तियों की ओर बढ़ानेवाली शब्दशक्ति मन्त्र है। सिद्ध तन्त्र मन के भीतर तिरोहित अनन्त शक्तियों को विकसित करता है, मन को आत्मा तत्त्व की ओर ले जाता है। तान्त्रिक योगी का यही एकमात्र लक्ष्य है : वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि नहीं। यदि है भी, तो काम-क्रोधादि

आंतरिक षड्रिपुओं के संदर्भ में ही है।

तन्त्र योग का उद्भव

तन्त्र योग के अनुसार सृष्टि के महाकारण शिव हैं और उन्हीं के द्वारा ज्ञान का नादात्मक प्रसार हुआ है। इसलिए तन्त्र योग शास्त्र में अनेक ग्रन्थ भैरव शिवपार्वती, भैरव महेश्वर के या भैरव उमासंवाद के रूप में है। इस तरह तन्त्र शास्त्र का उद्भव महाशिव से माना गया है। आगमों का विषय ही तन्त्रसाधना है। बाद में निगमों से वैष्णवों में तन्त्र मन्त्र का प्रचार हुआ। महायान धारणा के बौद्धों ने भी शाक्तों से इसे अपनाया। पतञ्जलि के योगशास्त्र और बौद्धों की सहज साधना से मिलकर एक नयी साधना पद्धति बन गयी थी; जिसे 84 सिद्धों और 9 नाथों ने प्रचारित किया। वैष्णव और सौरादि साधन प्रणाली भी वास्तव में तान्त्रिक-परम्परा से जुड़े हैं, वैष्णवक्रम में पांचरात्र और भागवतधारा प्राचीन काल से प्रचलित हैं। क्रमशः दोनों में मिलावट हुई, पांचरात्र तन्त्र, 'सात्वत तन्त्र' आदि ग्रन्थ प्राचीन काल से ही वैष्णव-समाज में सम्मानित रहे। किन्तु तान्त्रिक साधना से शैवों और शाक्तों की साधना ही अभिप्रेत है। तन्त्रमत से सृष्टि, संहार, पालन, निग्रह (निरोध) एवं अनुग्रह-इन पाँच कार्यों के मुख्य कर्ता परमेश्वर हैं।

तन्त्र के मूल स्रोत तीन देवता माने गये हैं और इसीलिए तंत्र योग शास्त्र को इन्हीं के नाम पर तीन भागों में विभाजित है :

1. **वैष्णवागम**
2. **शैवागम**
3. **शाक्तागम।**

इस तन्त्र योग की मान्यता के अनुसार कलियुग में जब वैदिक धर्म-समाज के लोगों द्वारा उनकी अल्प बुद्धि से परे हो जायेगा, उस समय तन्त्र मार्ग ही उपयुक्त रहेगा। ऐसा भगवान् 'शिव' के द्वारा **'महानिर्वाण तन्त्र'** में कहा गया है।

तंत्र योग की तान्त्रिक साधना पद्धति

जिसके द्वारा इहलौकिक एवं पारलौकिक सुखों की उपलब्धि

बतलायी जाती है। वह तंत्र योग साधना पद्धति है। भारत में प्रचलित तान्त्रिक साधनाओं में शक्ति, शैव, वैष्णव, गाणपत्य एवं सौर साधनाएँ प्रमुख हैं। तंत्र **योग** साधना में विभिन्न प्रकार के मन्त्रों का वर्णन आता है; जिसे सिद्ध करने के अनेक पूजनोपचार एवं विधियाँ साधकों द्वारा अपनायी जाती हैं। तान्त्रिक अनुष्ठानों द्वारा मन्त्रों को सिद्ध करने से अनेक सिद्धियों की प्राप्ति होना बतलाया गया है। इन प्रक्रियाओं में चित्त को एकाग्र कर उसके सूक्ष्म प्रभावों के सम्प्रेषण का विशेष महत्त्व रहता है।

मन्त्रों के स्वरों में एक विशेष प्रकार का उच्चारण एवं तान्त्रिक अनुष्ठानों में विभिन्न प्रकार के पूजन सामग्रियों का प्रयोग करके, साधक अपने चित्त को एक विशेष भाव-भूमि पर केन्द्रित करते हैं। तन्त्र योग के नाम पर आज जो सर्व प्रचलित साधना है, वह **शक्ति साधना** है। इस शक्ति साधना को भी दो भागों में विभाजित किया गया है **: दक्षिण मार्ग एवं वाम मार्ग।** शक्ति पद्धति की तन्त्र साधना में प्रयुक्त होने वाले **पंच मकार :**

1. मद्य या **शराब, 2. मस्सा** या **मांस, 3. मत्स्य** या **मछली, 4. मुद्रा** या **प्रतीकात्मक कृत्य, 5. मैथुन** या **मैथुना** है।

सूक्ष्म प्रतीक के रूप में मानकर सात्त्विक वृत्ति से जो साधनाएँ की जाती हैं, वह दक्षिण मार्ग है। इसके विपरीत इन पंचमकारों के शाब्दिक अर्थ के अनुरूप भौतिक पदार्थों को ही स्थूल रूप में मानकर पंच महाभूत भी माने गये हैं; यथा मद्य को अग्नि, मांस को वायु, मीन को जल, मुद्रा को पृथ्वी और मैथुन को आकाश के प्रतीक मानते हैं। विशुद्ध तन्त्र के अनुसार मैथुन का अर्थ भी स्त्री-पुरुष समागम नहीं है बल्कि मस्तिष्क के केन्द्र में होने वाला शिव एवं शक्ति का संयोग है। पंच मकारों की स्थूल साधना को प्रायः लोग हेय एवं शंकालु दृष्टि से देखते हैं। मगर वामाचारी इन्हें हेय नहीं मानते, बल्कि उन्हें मुक्ति का साधन मानते हैं। वाममार्गी साधना में भी क्रमशः दिव्य भाव को ही तंत्र योगसाधना की उच्चतम भूमि बतलाया जाता है।

इन पाँच मकारों का आज के लोगों ने गलत अर्थ ले लिया हैं। वह सोचता है कि तंत्र योग पाँच मकारों में मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन हैं। जबकि वह इसके सही अर्थ को नहीं समझता है। हम सोचते हैं कि शराब पिएं, मांस खाएं, मैथुन करें; तो तंत्र योग सफल होगा। जबकि ऐसा नहीं है। कोई भी योग इन सब चीजों की इजाजत नहीं देता हैं।

हम इस के सही स्वरूप की चर्चा करते हैं :

मद्य या शराब– इसका सेवन अर्थात् सहस्त्रार से जो अमृतधारा निकलती है, उसे पीना मद्यपान कहलाता हैं।

मांस या मस्सा– इसका का अर्थ हैं कि मांस को नियंत्रित करना, न कि मांस का सेवन करना। यहाँ मास का सेवन जिह्वा के संयम से हैं। संस्कृत व्याकरण में मांस-गाय आदि शब्दों का प्रयोग जिह्वा के लिए किया गया हैं।

मीन, मत्स्य या मछली- यानि इड़ा (गंगा), पिंगला (यमुना) दोनों के बीच जो सुषुम्ना नाड़ी हैं वह मत्स्य हैं, प्राणायाम के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी में बह रहे प्राण तत्त्व को नियंत्रित करना मत्स्य है।

मुद्रा या प्रतीकात्मक- यानि भृकुटी के मध्य जो आत्मा विराजमान है, उसे जिसने पहचान लिया; वे मुद्रा साधक कहलाते हैं।

मैथुन- मैथुन के द्वारा सिद्धि व ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, अर्थात् आत्मा में सदैव परमात्मा शिव की याद रहे; यही मैथुन है न कि शारीरिक संबंध।

सिद्धांत

तंत्र योग एक गुप्त विद्या है। जिसे किताबों के अध्ययन से नहीं सीखा जा सकता है व्यावहारिक तांत्रिक, तांत्रिक आचार्य और योग्य योगी ही इसे सिखा सकता हैं। योगी छात्र को शुद्धता, विश्वास, भक्ति, समर्पण, नम्रता, साहस, वैश्विक प्रेम, सच्चाई के प्रति समर्पित होना चाहिए।

तंत्रयोग का उद्देश्य

तंत्र योग मूलाधार से आज्ञा चक्र तक छः चक्रों में अव्यवस्थित शक्तियों के विकास पर जोर देता हैं कुंडलिनी योग वास्तव में तांत्रिक

साधना से संबंधित हैं। जो इस सर्परूपी कुंडलिनी के फैलाव पर जोर देता हैं। सम्पूर्ण तांत्रिक साधना का उद्देश्य कुंडलिनी जागृत करना और सदाशिव के साथ एकजुट होना हैं।

आयुर्वेद में योग स्वरूप

आयुर्वेद की एक महती विशेषता यह है कि उसने दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय आत्मा-मन और इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत विषयों का सर्वांगपूर्ण विवेचन कर दार्शनिक सिद्धान्तों एवं उसकी उपयोगिता एवं सार्थकता को अपने में संजोया हुआ है। आयुर्वेद में मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक आदि विषयों की व्यापकता दिखायी देती है।

मन और आत्मा के विषय में गम्भीर चिन्तन-मनन योगशास्त्र में प्राप्त होता हैं। मन और आत्मा सम्बन्धी कोई भी विषय आयुर्वेद से अछूता नहीं रहा हैं; क्योंकि योग और कैवल्य का सीधा सम्बन्ध मन और आत्मा से है। आयुर्वेदाचार्यों ने भारतीय दर्शनशास्त्र एवं आध्यात्मशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को आयुर्वेद में आत्मसात् किया है। योगशास्त्र अपने आप भी एक दार्शनिक एवं आध्यात्मिकविचार प्रधान शास्त्र है, इसलिए आयुर्वेद भी इसके द्वारा प्रभावित हुए बिना न रह सका। यही वजह है कि आयुर्वेद में योगशास्त्र के सिद्धान्त बीजरूप में दिखायी देते हैं।

योग का लक्षण– आयुर्वेद में योग और मोक्ष को मन और आत्मा से सम्बन्धित मानते हुए पर्याप्त रूप से इनकी विवेचना की गई है। आयुर्वेद में अत्यन्त ही सुन्दर रूप से योग का लक्षण बतलाया है; जो इस तरह से है : आत्मा, इन्द्रिय, मन और इन्द्रियों के विषय के सन्निकर्ष से सुख और दु:ख-दोनों होते हैं। जब आत्मा में मन स्थिर होता है, तो मन के द्वारा कोई कार्य न होने से सुख और दु:ख-दोनों निवृत्त हो जाते हैं, तब तन के साथ मन स्थिर होने से आत्मा नियंत्रित हो जाती है। ऐसे योग के जानने वाले (योगीजन) इसे योग कहते हैं। यहाँ पर महर्षि चरक ने आत्मा के साथ मन को नियंत्रण में करना ही योग का लक्षण माना है। यही मान्यता महर्षि पतञ्जलि की है। लोक में सब तरह के सुख एवं दु:ख का मूल कारण मन को माना गया है। मन बड़ा

चंचल है अहित विषयों में इन्द्रियों के माध्यम से मन की प्रवृत्ति होना दु:ख है और हित विषयों में प्रवृत्ति होना सुख का मूल कारण है।

महर्षि चरक ने योग का स्वरूप लक्षण बतलाते हुए एक विशेष एवं महत्त्वपूर्ण विवेचना की है कि योग में मात्र मन वशीभूत नहीं होता है; अपितु मन के साथ तन व समस्त इन्द्रियाँ भी नियन्त्रण में हो जाती हैं। **सशरीरस्य मनसः वषित्वं चोपजायते :** संसार की सब तरह की वेदनाओं का अधिष्ठान मन एवं इन्द्रिय शरीर होता है। यहाँ पर महर्षि चरक ने योगावस्था में मन और शरीर-दोनों का नियंत्रण स्वीकार किया है।

चरक संहिता में चार प्रकार के योग का वर्णन प्राप्त होता है।

समयोग- मलादि वेग की प्रवृत्ति उचित समय पर होना, सामान्य कष्ट की अनुभूति का होना, क्रमश: वात-पित्त-कफ दोषों का निकलना या रुक जाना अर्थात् दोषों के निरुद्ध होने पर वेगों की समाप्ति होना ये सब समयोग के लक्षण होते हैं। दोषों के प्रभाव भेद से यही सम्यक् योग तीक्ष्ण, मृदु, मध्य तीन प्रकार का समझा जाता है:

कालेप्रवृत्तिनतिमहति व्यथा, यथाक्रम दोषहरणं स्वयं वाऽवस्था-नमितियोग लक्षणानि भवन्ति। योगेन तु दोषप्रमाणविशेषेण तीक्ष्ण-मृदुमध्यविभागो ज्ञेयः।[1]

अयोग- किसी कारण विशेष से वमन का होना, अथवा केवल वमन कराने के लिए जो औषधि दी गयी हो; उसी का निकल जाना अथवा वमन के वेगों का बीच में टूट जाना या रुक जाना अयोग कहलाता है:

अप्रवृत्तिः कुतश्चित् केवलस्याऽप्यौषधस्य
विभ्रंसो विबन्धो वेगानामयोगलक्षणानि भवन्ति।[2]

अतियोग- इसमें लारयुक्त लालरक्त की कणिकाओं से युक्त

1. च.सं.सू. 15/13
2. च. सं. सू. 1/13

वमन होता है अथवा रक्त भी निकल जाता है, तो अतियोग कहलाता है:

योगाधिक्ये तु फेनिलरक्तचन्द्रिको
गमनमित्यतियोगलक्षणानि भवन्ति।[1]

हीनयोग या मिथ्यायोग- दोषयुक्त, सड़ी-गली, अधिक समय तक रखी गयी, जली, सूखी, अधिक आर्द्र वस्तु (आहार) आदि का सेवन अथवा स्नान, वस्त्र आदि का ऋतु के विपरीत सेवन करने से रोग या व्याधि की सम्भावना रहती है जिसे हीनयोग या मिथ्यायोग कहते है।

चरकसंहिता में अष्टांगयोग की भाँति अष्ट स्थानों में विभाजन कर आयुर्वेद का ज्ञान कराया गया है। महर्षि चरक ने मौलिक सिद्धान्त तथा कायचिकित्सा का विशिष्ट प्रतिपादन किया है। संसोधन चिकित्सा पर भी विशेष बल दिया है। जिसका वर्णन दो स्वतन्त्र स्थानों (कल्प और सिद्धि) में किया गया है। आयुर्वेद की संहिताएँ शारीरिक रोगों के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा के साथ-साथ मनो-आध्यात्मिक भावों का भी विश्लेषण करती है।

आयुर्वेद मे यम नियम सद्वृत्त

मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का दु:ख न देना अहिंसा कहलाता है। हिंसा तम का द्योतक है, यह अभिघात और प्रतिरोध को उत्पन्न करने वाला होता है। आयुर्वेद में उसे पापकर्म बताकर त्यागने के लिए कहा गया है। इसे सद्वृत्त के रूप में वर्णित किया गया है तथा रसायन सेवन से पूर्व भी एवं आचाररसायन के अन्तर्गत अहिंसा का वर्णन किया गया है।

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्।।[2]

आयुर्वेद में आचार रसायन में सर्वप्रथम सत्यवादी ही कहा गया है अर्थात् सर्वदा सत्य बोलना चाहिए। सद्वृत्त में झूठ न बोलने के लिए

1. च. सं. सू. 16/13
2. च. चि. 1/4/30

कहा गया है: **नानृतं ब्रूयात्।**[1]

अस्तेय का अर्थ होता है: चोरी न करना। आचार्य वाग्भट ने स्तेय को दशविध पापकर्म के अन्तर्गत बताया है और मन, वचन और कर्म से त्यागने के लिए कहा गया है। जीवन के तीन उपस्तम्भों में ब्रह्मचर्य की गणना की गई है। आचाररसायन में मद्य एवं मैथुन से निवृत्त रहने के लिए बताया गया है। ज्वरचिकित्सा में आचार्य चरक ने कहा है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा ज्वरमुक्त हो जाता है **: ब्रह्मचर्येण ज्वरात् प्रमुच्यते।**[2]

जीवनपर्यंत स्वस्थ रहने के लिए मनुष्य को मन, वचन तथा कर्म की पवित्रता आवश्यक है। अत: महर्षि चरक का उपदेश है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वस्थ वृत्त के नियमों का पालन आवश्यक है। चरक का वचन है कि सौम्य बुद्धि, मधुर वचन, सुखकारक कर्म, निर्मल तथा पापरहित बुद्धि, विवेक, तप तथा यम-नियम प्राणायाम आदि योग का सदैव सेवन करने वाले मनुष्य को कोई भी शारीरिक तथा मानसिक कष्ट नहीं होता।

महर्षि चरक- उत्तम वैद्य के चार गुणों में शौच को एक प्रधान गुण माना है। शौच से कायिक, वाचिक एवं मानसिक शुद्धि होती है। आयुर्वेदशास्त्र में दो प्रकार के शुद्धि का वर्णन किया गया है। इन्हें योगी जन बाह्य शौच एवं आन्तरिक शौच के नाम से ग्रहण करते है। आयुर्वेद में बाह्य शुद्धि के लिए अंग प्रक्षालन, स्नान, दन्तधावन, कवलग्रह आदि कर्म बताए गए हैं और आभ्यन्तर शुद्धि सामाजिक एवं मानसिक स्तर, धी- स्मृति का ज्ञान, व्यवहार आदि से लेते हैं।

चरकसूत्र संहिता में शरीर में उपस्थित वात- पित्त- कफ दोषों को संतुलन बनाए रखने तथा शोधन के लिए पंचकर्म (स्नेहन- स्वेदन- वमन विरेचन-बस्ति) का विवेचन किया गया है- **तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेददोपषादनैः। पंचकर्माणि कुर्वीत मात्रा कालौ विचारयन्।**[3]

1. च. सू. 8/19
2. च. चि. 1/4/31
3. च.सू. 02/15

असंतोष वृति

लौल्यं क्लेशकराणां श्रेष्ठम्।[1]

लौल्यं को कष्ट उत्पन्न करने वालों में श्रेष्ठ कहा गया है: यह सन्तोषवृत्ति का विपरीतार्थक है। उसे धारणीय वेगों की गणन में भी गिना गया है। योगसूत्र में लोल्य के विपरीत भाव सन्तोष को सर्वोत्तम सुख की संज्ञा दी गई है। आयुर्वेद में आचाररसायन के अन्तर्गत कहा गया है कि प्रतिदिन जप, शौच, दान एवं तपस्या करनी चाहिए तथा देवता, गौ, ब्राह्मण, आचार्य एवं गुरु की सेवा में रत रहना चाहिए।

जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्।।[2]

वेद, उपनिषद्, आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन स्वाध्याय है। ईश्वर की शरणागति से योग साधन में आने वाले विघ्नों का नाश होकर शीघ्र ही समाधि निष्पन्न हो जाती है। आयुर्वेद में मानस दोष चिकित्सा के रूप में पूजा-पाठ और ईश्वर का ध्यान बताया गया है। ज्वरादि की चिकित्सा में विष्णुसहस्रनाम जप आदि बताया है।

सामयिक सद्वृत्त

गुरु, देवता, गौ, वृद्ध, ब्राह्मण, सिद्धाचार्यों को नमस्कार, अग्निहोत्र सेवन, प्रशस्त एवं अनुभूत औषध सेवन, दोनों समय स्नान, नेत्रादि इन्द्रियों की प्रतिदिन प्रातः- सायं शुद्धि, केश, नख, दाढ़ी आदि का समयानुसार संमार्जन, प्रतिदिन धुले हुए सुगन्धित वस्त्रों को धारण करना, सुगन्धित पदार्थों का अनुलेपन, केशों का प्रसाधन, सिर, कान, नाक, पाद आदि में तैलमर्दन, दीन-दुःखी की सहायता, निश्चिन्त, निडर, बुद्धिमान, लज्जाशील, चतुर, राग-द्वेष के मानसिक विकारों का विनाश करने वाला, धर्मपरायण, आस्तिक, सर्वप्राणियों को बन्धुतुल्य मानना, क्रोध का नाश करने वाला शान्ति को गुण समझने वाला होना चाहिए।

---

1. च.सू. 2/25
2. च.चि. 1/4/31

व्यावहारिक सद्वृत्त

प्रात: एवं सायं सन्ध्याकाल में भोजन, अध्ययन, शयन या स्त्री सहवास न करे, बालक, वृद्ध, रोगी, मूर्ख, क्लेशयुक्त जीवनयापन करने वालों तथा नपुंसकों के साथ मित्रता न करें, मद्यसेवन, जुआ खेलना, वेश्यागमन आदि की इच्छा न करें, किसी की गुप्तवार्ता की व्याख्या न करें, किसी का अपमान न करें, अभिमान का त्याग करें, बुद्धिमान् पुरुषों की सम्मति द्वारा निर्धारित नियमों का त्याग न करें, नियमों का उल्लंघन न करे, बन्धुबान्धव, मित्र वर्ग, आपत्तिकाल में सहायक तथा गोपनीय रहस्यों को जानने वाले लोगों को सदा सम्पर्क में रखें:-

न स्त्रियमवजानीत् नातिविश्रम्येत् नारहसित्यवायं गच्छेत्।[1]

रात्रि में या अपरिचित स्थान में भ्रमण न करें, कार्यकुशल, उदार, असूयारहित ब्राह्मणों का सम्मान करने वाला होवे, वृद्ध, गुरुजन, गण, राजा आदि का अपमान या आक्षेप न करें,

प्राणायाम

प्राणवायु का शरीर में प्रविष्ट होना श्वास और बाहर निकलना प्रश्वास है। इन दोनों का विच्छेद होना प्राणायाम है। आयुर्वेद में वायु को 'प्राण' संज्ञा प्रदान की गई है। आयुर्वेद में वायु को आयु कहा गया है तथा वायु के द्वारा ही प्राणायाम आदि की क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं : **वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानम्, वायुः आयुः, वायुः प्राणापानौ, प्राणो रक्ष्यश्चतुर्यो हि प्राणां जहाति।**[2] वायु प्राणायाम क्रिया का सम्पादन कराती है, आयुर्वेद में वायु को यन्त्र-तन्त्र को धारण करने वाली कही गयी है। प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान को आत्मा का रूप कहा गया है तथा यही शरीर की सभी चेष्टाओं का नियन्त्रण एवं प्रणयन करती है। सभी इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त करने वाली भी यही है:

---

1. चरकसूत्र 8/22
2. च.सू. 12/2

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चा-वचानां, नियन्ता, प्रणेता च मनसः सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः।[1]

उपर्युक्त अनुसार वायु शरीर एवं शरीरावयव को धारण करने वाली, 'चेष्टा-गति आदि का नियन्त्रण एवं प्रणयन करने वाली कहा गया है।

ध्यान एवं समाधि

आचार्य चरक ने मानस रोगों की चिकित्सा बताते समय समाधि का उल्लेख किया है। समाधि के पहले आचार्य ने ज्ञान-विज्ञान-धैर्य एवं स्मृति का उल्लेख किया है **: मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्य स्मृतिसमाधिभिः।**[2] दूसरे स्थान पर आचार्य चरक ने कहा है कि मानस रोग उपस्थित होने पर धर्म-अर्थ एवं काम का ध्यान करना चाहिए तथा आत्मा आदि का ज्ञान अर्थात् धारणा करना चाहिए **: मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्। तद्विधसेवाविज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः॥**[3] अन्य आचार्यों ने भी धी-धृति एवं आत्मा का ज्ञान मानस दोष की चिकित्सा के लिए उत्कृष्ट औषधि बताया है। इस प्रकार आयुर्वेद में धारणा-ध्यान का धी-धृति आत्मा में चित्त को लगाने के रूप में इनका ज्ञान करने के रूप में कहा गया है तथा समाधि को उसी शब्द से ग्रहण किया है।

कर्म निरूपण

कर्म योग का एक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य अंग है। चरकशास्त्र के अनुसार इहलौकिक और पारलौकिक-दोनों प्रकार के कर्मों के तीन भेद हैं; जो इस प्रकार है:

1. **सत्प्रत्यय**- जो कर्म ज्ञानपूर्वक चेष्टा द्वारा किया जाए; वह सत्प्रत्यय कहलाता है; जैसे हाथ हिलाना, हाथ ऊपर-नीचे करना होता है।

---

1. च.सू. 12/8
2. च.सू. 1/58
3. च.सू. 11/47

2. **असत्प्रत्यय**- जो कर्म बिना ज्ञानपूर्वक होता है; वह असत्प्रत्यय कर्म कहलाता है। जैसे नेत्र की पलकों को उठाना, गिराना, शरीर में रोमांच होना, हृदय की धड़कन आदि।
3. **अप्रत्यय**- अचेतन पदार्थों वृक्षादि में ऋतु अनुसार नये पत्तों का निकलना, पुष्प, फल बीज की प्राप्ति, पतझड़ आदि। नोदन, गुरुत्व और वेग- ये तीन अप्रत्यय है। पारलौकिक कर्म के तीन भेद हैं :

बलाबलविशेषोस्ति तयोरपि च कर्मणो।
दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम्।।[1]

1. **हीनकर्म**- अधोगति में ले जाने वाले अशुभ कर्मों को हीन कर्म कहते हैं। यथा असत्यभाषण, परस्त्रीगमन आदि।
2. **उत्तमकर्म**- उत्तम लोकों में ले जाने वाले शुभ कर्मों को उत्तम कर्म कहते हैं। यथा सत्यभाषण, परोपकार आदि उत्तम कर्म हैं।
3. **मध्यमकर्म**- मिश्रित फल वाले कर्म को मध्यम कर्म कहते हैं। यथा कर्मकाण्ड, अग्निहोत्र, धन लेकर विद्याध्ययन करना, स्वास्थ्य लाभ के लिए औषधि निर्माण करना मध्यम कर्म है; क्योंकि यह कर्म करने से देवता संतुष्ट होते हैं। इसलिए उत्तम लोकों की प्राप्ति कराने के कारण अग्निहोत्र भी महत्व पूर्ण है।

आयुर्वेदीय पंचकर्म चिकित्सा

पंचकर्म चिकित्सा आयुर्वेदीय चिकित्सा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। पंचकर्म शब्द से ही इसका अर्थ स्पष्ट है कि ये पाँच प्रकार के विशेष कर्म हैं: जो शरीर से मलों व दोषों को बाहर निकालते हैं। इस चिकित्सा से पूर्व जिन कर्मों को किया जाता है, उन्हें पूर्व कर्म कहा जाता है। ये पाँच कर्म निम्नलिखित है:

1. वमन (Emetic therapy)

---

1. चरकविमान 3/31

2. विरेचन (Purgative therapy)
3. नस्य (Inhalation therapy or Errhine)
4. अनुवासन वस्ति (A type of enema)
5. निरूह वस्ति (Another type of enema)

सुश्रुत आदि कुछ विद्वानों ने नस्य के स्थान पर 'रक्तमोक्षण' (Blood letting therapy) को पंचकर्म में गिना है। हालांकि इन सभी कर्मों को करने से पहले यह देखना बहुत जरूरी है कि आप शारीरिक और मानसिक रूप से उस योग्य हैं या नहीं। अगर आप उस योग्य नहीं हैं, तो लाभ की बजाय हानि हो सकती है।

वमन

इस चिकित्सा में उल्टी लाने वाली औषधियों का प्रयोग करके आमाशय की शुद्धि की जाती है। इसे 'वमन' कर्म कहते हैं। अधिक गर्मी व सर्दी वाले मौसम में यह क्रिया नहीं की जाती है। इस क्रिया का मुख्य उद्देश्य शरीर में जमे हुए कफ को उल्टी के माध्यम से बाहर निकालना है।

विरेचन

जब आँतों में स्थित मल पदार्थ को गुदाद्वार से बाहर निकालने के लिए औषधियों का प्रयोग किया जाता है, तो इस क्रिया को विरेचन कहते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण संशोधन क्रिया है। इसका प्रयोग सामान्यतः सर्दियों के मौसम में किया जाता है। लेकिन अगर कोई गंभीर रोग है, तो इसे किसी भी मौसम में किया जा सकता है।

नस्य कर्म अथवा शिरोविरेचन

सिर, आँख, नाक, कान व गले के रोगों में जो चिकित्सा नाक द्वारा ली जाती है; उसे नस्य या शिरोविरेचन कहते हैं। इस प्रक्रिया के तहत भी कफ को बाहर निकाला जाता है। नस्य कर्म के मुख्यतः दो प्रकार हैं: रेचन अथवा कर्षण नस्य, इसके लिए तीक्ष्ण प्रभाव वाले तेलों

अथवा तीक्ष्ण औषधियों के रस या क्वाथ से पकाये गये तेलों का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त औषधियों के रस या चूर्ण का प्रयोग भी किया जाता है।

स्नेहन अथवा बृंहण नस्य

यह नस्य शिर, नाक आदि ऊपरी अंगों में स्निग्धता लाता है। इसमें तैल अथवा मधुर रस युक्त औषधियों के रस, क्वाथ, कल्क अथवा चूर्ण से पकाये गये तैल या घी का प्रयोग किया जाता है।

अनुवासन बस्ति

गुदामार्ग में कोई भी औषधि डालने की प्रक्रिया 'बस्ति कर्म' कहलाती है। जिस बस्ति कर्म में केवल घी, तैल या अन्य चिकनाई युक्त द्रव्यों का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है, उसे 'अनुवासन' अथवा 'स्नेहन वस्ति' कहा जाता है।

निरूह बस्ति

जिस बस्ति कर्म में कोष्ठ (आमाशय में जमे मल) की शुद्धि के लिए औषधियों के क्वाथ, दूध और तेल का प्रयोग किया जाता है; उसे निरूह बस्ति कहते हैं। यह बस्ति शरीर में सभी धातुओं और दोषों को संतुलित अवस्था में लाने में मदद करती है। निरूह बस्ति गुणों के आधार पर अनेक प्रकार की है। जैसे कि दीपन बस्ति, लेखन बस्ति, बृंहण बस्ति, पिच्छिल बस्ति, सिद्ध बस्ति, युक्तरसा बस्ति आदि। इन सबका प्रयोग रोग व रोगी की प्रकृति के अनुसार ही किया जाता है। यहाँ सामान्यरूप से निरूह बस्ति का परिचय दिया जा रहा है।

रक्तमोक्षण

आयुर्वेद में रक्त को एक महत्त्वपूर्ण धातु माना गया है। रक्त के प्रदूषित होने पर हमारे शरीर में कई बीमारियाँ पनपने लगती हैं। इसलिए ऐसे रोगों के इलाज में प्रदूषित रक्त को शरीर से बाहर निकालना जरूरी हो जाता है। शरीर से प्रदूषित या संक्रमित रक्त निकालकर इलाज करने

की यह प्रक्रिया ही 'रक्तमोक्षण' कहलाती है। शरीर से खून निकालने की यह प्रक्रिया दो तरीकों से की जाती है: 1. किसी औजार द्वारा खून निकालना, 2. बिना औजार के खून निकालना।

आयुर्वेद में प्रमाण-

महर्षि चरक प्रदत्त चरक शास्त्र में चार प्रकार के प्रमाणों का वर्णन मिलता है; जो इस प्रकार हैं 1. आप्तोदेश, 2. प्रत्यक्ष 3. अनुमान तथा 4. युक्तिप्रमाण।

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च।
तस्य चतुर्विधा परीक्षा युक्तिश्चेति॥

चरक ने रोग विशेष ज्ञान हेतु आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, युक्तिप्रमाण, तथा अनुमान का स्मरण किया है।

पुरुष

आयुर्वेद में सर्वात्मना मान्य पुरुष चतुर्विंशति तत्त्वात्मक राशिपुरुष ही है:

चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः।[1]

पुरुष संज्ञा चेतना की ही होती है जितनी हमारी इंद्रिय है 24 तत्त्वों को मिलकर ही पुरुष के लिए साधन बनते है इन्ही सब को मिल कर ही शरीर मे कार्य सिद्ध होते है जिनका परिगणन निम्न रूप से किया गया है चतुर्विंशति तत्त्वात्मक पुरुष को मानव की इकाई स्वीकार किया गया है; और इसी को चिकित्साशास्त्र का कर्मक्षेत्र माना गया है। ये 24 तत्त्व इस प्रकार हैं- मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियार्थ, अव्यक्त महत् तत्त्व, अहंकार और पंचमहाभूत- ये चौबीस तत्त्व मिलकर पुरुष की सृष्टि करते हैं।

खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥

---

1. च. शा. 1/35

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः मनो।
दशेन्द्रियान्यार्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकि।।[1]

आत्मा

आयुर्वेद के आचार्य महर्षि चरक ने आत्मा को अव्यक्त क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु तथा अव्यय बताया है। यह आत्मतत्त्व निर्विकार है; परन्तु चेतन है, नित्य है, दर्शक, क्षेत्रज्ञ एवं कर्ता है। यही साक्षी, चेतन, पुद्गल आदि नामों से जाना जाता

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः।।[2]

इस प्रकार जीव में परमतत्त्व आत्मा का निवास है; जिसका साक्षात्कार योगसाधना द्वारा सम्भव है।

ईश्वर

चरकसंहिता में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है और साथ-साथ राजा, समर्थ या ऐश्वर्यशाली शब्दों का प्रयोग भी ईश्वर के लिए किया गया है जिसको परमात्मा या जगत् नियन्ता के रूप में स्वीकार किया है:

ईश्वराणां वसुमतां वमनं सविरेचनम्।
या पुनरीश्वराणां वसुमतां वासकांशात्।।[3]

चरकसंहिता के अन्य स्थानों में भी ब्रह्म 'शब्द' का प्रयोग जगत् नियन्ता के रूप में उपलब्ध होता है। जिस प्रकार लोक में ब्रह्मव्याप्त है। उसी प्रकार शरीर में अन्तरात्मा की विभूति विराजमान है **: ब्रह्म अन्तरात्मा।**[4]

---

1. च.शा. 1/16-17
2. च.सू. 1/55
3. च.सू. 30/29
4. च. शरीर 5/5

अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद है। इसमें महर्षि चरक द्वारा प्रार्थना, उपासना, नमन, भगवद्दर्शन तथा प्रभुनामकीर्तन आदि परमात्मा सम्बन्धी नियमों के विधान किया गया है जिससे उनकी ईश्वर संबन्धी निष्ठा का स्वयमेव ज्ञान हो जाता है। वेदों में रोगनिवारण हेतु ईश्वर प्रार्थना, यज्ञ तथा प्रभु-चिन्तन आदि का निर्देश युक्तिसंगत है। इसी कारण आयुर्वेद के ग्रन्थों में ईश्वराराधना को स्वीकार किया गया है।

महर्षि चरक ने अव्यक्त के रूप में कर्ता, विश्वकर्ता, ब्रह्मा आदि शब्द का प्रयोग ईश्वरवाची रूप में प्रयोग किया है। उसने निर्विकार परमात्मा का भी वर्णन किया है **: निर्विकारः परस्त्वात्मा।**[1]

मोक्ष

महर्षि चरक ने मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि मन में जब रजस् और तमोगुण का अभाव होता है तथा बलवान् कर्मों का क्षय हो जाता है; तब कर्मजन्य बन्धनों से वियोग हो जाता है। उसे अपुनर्भव या मोक्ष कहते हैं **: मोक्षोरजस्तमोऽभावात् बलवत् कर्मसंक्षयात् वियोगः सर्वयोगैरपुनर्भुवः।**[2] इसी प्रकार एक अन्य स्थान में इसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि यम-नियमों का पालन, महात्मा पुरुषों की सेवा, आत्मशुद्धि हेतु उपवास, या इस जन्म में किये गये कर्मों का क्षय, पुनर्जन्म कर्माशयों से दूर रहकर कर्मफल हेतु कर्मों का त्याग, धर्मशास्त्रों का अध्ययन, काम-क्रोधादि का त्याग, दुष्टजनों की उपेक्षा, आत्मा और शरीर के संयोग से भयभीत होना तथा बुद्धि को समाधिस्थ करने का प्रयास आदि से मोक्षप्राप्ति संभव है:

सतामुपासनं सम्यगसतां विवर्जनम्।
व्रताचार्योपवाशौचनियमाश्चपृथग्विधाः॥

धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानविजनेरतिः।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः पराधृतिः॥[3]

1. च.सू. 1/56
2. च.सं.शा. 1/42
3. च.सं.शा. 1/145-146

चरक का मत है कि कार्य आत्मा द्वारा सम्पन्न न होकर प्रकृति के स्वभावश स्वत: होते रहते हैं। सत्यबुद्धि की उत्पत्ति तक 'मैं' का भ्रम बना रहता है। यह 'मैं' ऐसी अहंकार बुद्धि और 'मेरा' यह ममत्वबुद्धि प्रकृति (माया) का प्रपंच है। जब इसका नाश नहीं होता, तब तक जीवात्मा बन्धन में फंसा रहता है और दु:ख भोगता है तथा जब आत्मा सभी तत्त्वों को स्मृति द्वारा जान लेता है, अर्थात् सांसारिक प्रपंचों से उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है वह जीवात्मा तत्त्वज्ञान द्वारा कर्मबन्धन तथा क्लेशादि से मुक्ति प्राप्त कर लेता है :

स्मृतिः सत्सम्बन्धाद्यैश्च धृत्यन्ते रूप जायते।
स्मृत्वास्वाभावभावानां विस्मरणं दु:खात् प्रमुच्यते।।[1]

इस प्रकार हम कह सकते है कि आयुर्वेद में भी योग तत्त्वों का वर्णन किया गया है। आयुर्वेद और योग- दोनों का लक्ष्य मनुष्य के वर्तमान जीवन को सुखमय बनाते हुए उसे मोक्ष की प्राप्ति तक ले जाना है।

1. च. सं. शा. 1/147

तृतीय अध्याय

योग के प्रकार, परम्परा एवं पद्धतियाँ

सांख्ययोग [ज्ञानयोग], भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, राजयोग, अष्टांगयोग, लययोग, मंत्रयोग, क्रियायोग, संन्यासयोग।

सांख्ययोग (ज्ञानयोग)

अध्यात्म के क्षेत्र में साधना के अनेक मार्ग हैं। साधक अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किस साधन या मार्ग का प्रयोग करता है, उसी के अनुसार उसकी साधना का नाम होता है। जैसे भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, हठयोग, राजयोग, लययोग, मंत्रयोग इत्यादि ज्ञानयोग में साधक ज्ञान के माध्यम से ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, अतः इसे ज्ञान-योग-साधना कहा जाता है।

ज्ञानयोग तथा संन्यासयोग- ये सांख्य के ही नाम हैं। सम् = सम्यक् + ख्या ख्याति-ज्ञान को 'सांख्य' कहते हैं। आत्मा का अपने स्वरूप को जान लेना सांख्ययोग कहा जाता है अथवा प्रकृति-पुरुष का ज्ञान करके अपने को प्रकृति के बन्धन से मुक्त कर लेना ही सांख्य का प्रयोजन है। **शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते**[1] अर्थात् प्रकृति और पुरुष का ज्ञान करके अपने को प्रकृति के बन्धन से मुक्त कर लेना ही सांख्य का प्रयोजन है।

सांख्य का साधनः- प्रकृति एवं पुरुष के गुण-धर्मो को जानकर प्रकृति से अपने को निर्लिप्त या पृथक् कर लेना ही सांख्य का मुख्य प्रयोजन है। सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृति के विकार महत्तत्व (बुद्धि), अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच स्थूलभूत-इन चौबीस तत्त्वों का साक्षात्कार

1. शांकर भाष्य (विष्णुसहस्रनाम)

योगाभ्यास और ज्ञानयोग (विवेक) द्वारा करना। प्रकृति के विकार मन, बुद्धि, इन्द्रियादि विषयों का ग्रहण करने वाले हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये ग्राह्य हैं तथा प्रकृति के विकार हैं। इस प्रकार गुण ही गुणों में प्रवृत्त हो रहे हैं- यह जानकर अपने को इनसे पृथक् और अकर्ता समझना और अपने को ब्रह्मस्थ, ब्रह्म के समीप समझकर सदैव उसके स्वरूप का चिन्तन करना ज्ञानयोग कहलाता है। पुरुष शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होते भी अविद्यादि निमित्त से प्रकृति के बन्धन में बँध जाता है। प्रकृति सात रूपों (यथा धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य) से बाँधती है।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।।[1]

प्रकृति के बन्धन में बँध पुरुष उसमें होने वाले परिवर्तनों को अपने में मानकर सुखी-दुखी हो रहा है। प्रकृतिरूपी नटी उसके सामने भाँति-भाँति के नृत्य प्रस्तुत कर रही है। जब पुरुष को विवेक (ज्ञान) होता है, तो मैं देख ली गई- यह जानकर कुलवधू के समान पुरुष के सामने से हट जाती है। जैसे प्रदीप्त अग्नि काष्ठों को भस्मसात् कर देती है, उसी प्रकार विवेकज्ञान की अग्नि से सभी अविद्यादि विकार भस्म हो जाते हैं।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।[2]

इसलिए संसार में ज्ञान के समान पवित्र और मुक्तिदायक दूसरा साधन नहीं है; जिसे योगयुक्त पुरुष समयानुसार स्वयं अपनी आत्मा में पा लेता है।

---

1. सां.का. 63
2. गीता 4/37, 38

गोरक्षशतक में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग—ये योग के चार भेद कहे हैं :

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोतर्भूमिका क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।।[1]

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।[2]

हे महाबाहो अर्जुन! जो व्यक्ति 'तत्त्ववित्' है, तत्त्व को जानता है और 'गुण' तथा 'कर्म'- इन दोनों के विभाग को (भेद को) समझता है; वह यह जानकर कि (मैं कर्म नहीं कर रहा) मेरे (मुझ से सम्बद्ध) सत्त्व-रज-तम-ये 'गुण' ही प्रकृति के सत्त्व-रज-तम 'गुणों' पर क्रिया कर रहे हैं; वह गुणों में आसक्त होकर उनके जाल में नहीं फंसता। अर्थात् पुरुष शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हुए भी अविद्यादि निमित्त प्रकृति के बन्धन में बँध जाता है। प्रकृति सात रूपों- धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य से बाँधती है।

ज्ञानयोग की मान्यता यह है कि जीव तथा ब्रह्म मूलतः एक ही है। अतः ब्रह्म ही एकमात्र सत्य नित्य है, इसके अतिरिक्त सब कुछ असत्य और अनित्य है [स्वयं में छिपी हुई अनंत संभावनाओं का साक्षात्कार कर ब्रह्म में लीन होना ही ज्ञानयोग है]।

ज्ञानयोग की साधना को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है।

(क) बहिरंग साधना (ख) अन्तरंग साधना

(क) बहिरंग साधना= जब साधक ज्ञानयोग के मार्ग अग्रसर होता है, तो प्रारंभ में नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। उन्हीं नियमों की बातों को 'बहिरंग' कहते है। ये बहिरंग साधन संख्या में चार है इन्हें; 'साधन चतुष्टय' कहा जाता है; जो इस प्रकार है : (अ) विवेक (ब) वैराग्य (स) षट्सम्पत्ति (द) मुमुक्षुत्व।

1. गोरक्षशतक
2. गीता 3/28

(अ) विवेक

अच्छे-बुरे, सही-गलत, नित्य-अनित्य का यथार्थ बोध अर्थात् ज्ञानयोग के अनुसार नित्य वस्तु को नित्य ओर अनित्य वस्तु को अनित्य जानना ही **'नित्यानित्यवस्तु विवेक'** है। इसके अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य एवं नित्य है, इसके अलावा अन्य सभी वस्तुएँ मिथ्या एवं अनित्य है।

(ब) वैराग्य

बहिरंग साधनों में दूसरा प्रमुख साधन है- वैराग्य। वैराग्य का आशय है कि लौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकार के भोग, ऐश्वर्य एवं स्वर्गीय सुखों को मिथ्या एवं अनित्य मानकर उनके भोगने की इच्छा का पूरी तरह से परित्याग कर देना।

(स) षट्सम्पत्ति

ज्ञानयोग के साधक को छः बातों का पालन करना आवश्यक होता है। ये छः बातें अथवा गुण या नियम एक प्रकार से ज्ञानयोगी की सम्पत्ति होते हैं। अतः इन्हें 'षट्सम्पति' कहा जाता है। ये निम्न हैं: 1. शम 2. दम 3. उपरति 4. तितिक्षा 5. श्रद्धा 6. समाधान।

1. **शम**– 'शम' शब्द का अर्थ है- शमन; अर्थात् शान्त करना। इन्द्रियों एवं मन का निग्रह करना अर्थात् मन का संयम करना साधक के लिए एक अत्यधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।
2. **दम**– 'दम' का शाब्दिक अर्थ है- दमन करना; अर्थात चक्षु इत्यादि इन्द्रियों को विषयों से हटाकर चित्त को आत्मा में स्थिर करना ही दम है।
3. **उपरति**- कर्मफलों का परित्याग करते हुए आसक्तिरहित होकर कर्म करना तथा उन्हें ईश्वर को समर्पित करना ही उपरति है।
4. **तितिक्षा**- साधना के मार्ग में आने वाले सभी प्रकार के कष्टों को बिना किसी प्रतिक्रिया के प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निरन्तर साधना करने का नाम ही तितिक्षा है।

5. **श्रद्धा**- गुरु एवं शास्त्र के वाक्यों (वेद-वेदान्त इत्यादि के वाक्यों) में अटूट निष्ठा एवं विश्वास का नाम ही श्रद्धा है।

6. **समाधान**- चित्त को सर्वदा ब्रह्म में स्थिर एवं एकाग्र करने का नाम ही समाधान है। न कि चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान है।

(द) मुमुक्षुत्व-

दु:ख रूपी संसार सागर को पार करके मोक्षरूपी अमृत को प्राप्त करने की, साधक की जो तीव्र [अभिलाषा] इच्छा होती है; उसे ही मुमुक्षुत्व कहा जाता है।

(ख) अन्तरंग साधन- बहिरंग साधनों के समान अन्तरंग साधनों की संख्या भी चार ही है। जो निम्न हैं : 1. श्रवण, 2. मनन, 3. निदिध्यासन, 4. साक्षात्कार।

1. **श्रवण**– शास्त्रों में आत्मा-ब्रह्म के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन होने के कारण हो सकता है, कि साधक को अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न हो जाये कि ठीक या यथार्थ क्या है। श्रवण का अर्थ है : संशय को दूर करने के लिए साधक का सर्वप्रथम गुरु के मुख से ब्रह्म के विषय में सुनना है।

2. **मनन**– मनन का अर्थ है : ईश्वर के विषय में गुरूमुख से जो कुछ सुना है, उसको अपने अन्त:करण में स्थापित कर लेना; सम्यक् प्रकार से बिठा लेना।

3. **निदिध्यासन**– निदिध्यासन का आशय है : अनुभव करना अथवा बोध होना या आत्मचिन्तन करना। देह से लेकर बुद्धि तक जितने भी जड पदार्थ है, उनमें पृथक्त्व की भावना को हटाकर सभी में एकमात्र ब्रह्म को ही अनुभव करना निदिध्यासन है।

निदिध्यासन के 15 अंग माने गये हैं; जो निम्न हैं : 1 . यम, 2. नियम, 3. त्याग, 4. मौन, 5. देश, 6. काल, 7. आसन, 8. मूलबन्ध, 9. देहस्थिति, 10. दृक्स्थिति, 11. प्राणायाम, 12. प्रत्याहार, 13. धारणा, 14. ध्यान, 15. समाधि।

4. **समाधि–** ध्याता, ध्येय एवं ध्यान का भेद मिटाकर एकमात्र ध्येय की प्रतीति होना तथा आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने का नाम ही साक्षात्कार है।

भक्तियोग

भारतीय चिन्तन में ज्ञान तथा कर्म के साथ भक्ति को कैवल्य प्राप्ति का साधन माना है। **'भज सेवायाम्'** धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर 'भक्ति' शब्द बनता है; जिसका अर्थ सेवा, पूजा, उपासना और संगतिकरण करना आदि होता है। भक्तियोग प्रेम की उच्च पराकाष्ठा है। ईश्वर के प्रति अत्याधिक प्रेम ही भक्ति है। जब व्यक्ति संसार के भौतिक पदार्थों से मोह त्यागकर अनन्य भाव से ईश्वर की उपासना करता है; वही भक्तियोग कहलाता है। **भक्तिः नाम प्रेमविशेषः** अर्थात् ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम विशेष का नाम ही भक्ति है। भक्तियोग का मार्ग भाव-प्रधान साधकों के लिए अधिक उपयुक्त माना गया है। इस मार्ग में साधक का चित्त आसानी से एकाग्र हो जाता है। यह मार्ग अति सरल है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र में कहा गया है **: सा भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे**[1] अर्थात् ईश्वर में परम अनुरक्ति भक्ति है।

भक्तियोग की परिभाषा देते हुए नारदभक्तिसूत्र में कहा गया है : **मा तस्मिन् परमप्रेमरूपा**[2] अर्थात् प्रभु के प्रति परम प्रेम को भक्ति कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम में डूब जाना भक्ति कहलाता है। यह तो निश्चित है कि भक्त, ईश्वर की भक्ति किसी प्रयोजन से करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में भक्तों के भेदों को बताते हुए कहते हैं :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥[3]

---

1. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र 1/2
2. नारद भक्ति सूत्र 1/2
3. गीता 7/16

अर्थात् हे भरतवंशी अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यशाली मनुष्य मेरा भजन करते हैं; अर्थात् उपासना करते हैं। वे हैं- आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी॥

1. **आर्त भक्त–** आर्त भक्त वे कहलाते हैं; जो जब गम्भीर संकट में फँस जाते हैं, तो अपने आराध्य को आर्त भाव से पुकारते हैं और उसकी शरण में जाते हैं।
2. **जिज्ञासु भक्त–** जिज्ञासु, जैसा नाम से स्पष्ट है, जिज्ञासा रखने वाले; अर्थात् किसी वस्तु को जानने की इच्छा रखने वाले। जैसे आत्मा को जानने की इच्छा, ब्रह्म को जानने की इच्छा रखने वाले भक्त जिज्ञासु भक्त कहलाते हैं।
3. **अर्थार्थी भक्त–** संसार के समस्त व्यक्ति इसी श्रेणी में आते हैं, ऐसे भक्त किसी सांसारिक वस्तु, मकान, जमीन, धन, स्त्री, वैभव, मान-सम्मान, परीक्षाओं में सफलता, विवाह के लिए अपने आराध्य को भजते हैं। ऐसे भक्त अर्थार्थी भक्त कहलाते है।
4. **ज्ञानी भक्त–** ज्ञानी भक्त ऐसे भक्त है; जो अपने आत्मकल्याण तथा ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अपने आराध्य को भजते हैं। इन चार प्रकार के भक्तो में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ होते हैं।

नवधा भक्ति

भागवत पुराण में परमात्मा को प्राप्त करने के लिए नौ प्रकार से भक्ति करने की विधि का वर्णन किया गया है; जिसे हम नवधा भक्ति के नाम से जानते हैं। नवधा भक्ति, भक्तियोग का बड़ा महत्त्वपूर्ण पक्ष है। नौ प्रकार से भगवान् की भक्ति की जाती है :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥[1]

---

1. भागवत पुराण 7/5/23

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, साख्य और आत्मनिवेदन- ये भक्ति के नौ भेद हैं।

1. **श्रवण भक्ति**- परमपिता परमेश्वर, अपने आराध्य इष्ट के दिव्य गुणों व लीला आदि विषय में सुनना।
2. **कीर्तन भक्ति**- कीर्तन से आप भली भाँति परिचित होंगे। भगवान के दिव्य गुणों, लीला का गायन इत्यादि।
3. **स्मरण भक्ति**- सर्वत्र भगवान का स्मरण करना। अपने आराध्य की लीला गुणों का निरन्तर अनन्य भाव से स्मरण करना।
4. **पादसेवन भक्ति**- यह भक्ति एक तो भगवान् के चरणों का चिन्तन करते हुए तथा दूसरी उनकी प्रतिमा में चरणों को धोकर श्रद्धाभाव से साधना करते हुए की जाती है।
5. **अर्चन भक्ति**- अर्चन भक्ति का अर्थ है: पूजन करना अपने आराध्य का यह पूजन मानसिक रूप से या स्थूल रूप से हो सकता है।
6. **वन्दन भक्ति**- भाव भरे मन से भगवान् की वन्दना करना। वैदिक ऋचाओं, भक्तों के द्वारा भगवान् की स्तुति करना वन्दन भक्ति का उदाहरण है।
7. **दास्य भक्ति**- अपने आप को भगवान का दास समझना, अपने आप को भगवान् का सेवक समझना। जैसे हनुमान् जी श्री रामचन्द्र जी के प्रति रखते थे।
8. **सख्य भक्ति**- सख्य का अर्थ है : मित्र। अपने आराध्य को अपना मित्र समझना। जैसे सुदामा-कृष्ण, अर्जुन-कृष्ण इस भक्ति के उदाहरण है।
9. **आत्मनिवेदन भक्ति**- आत्मनिवेदन भक्ति अपने को भगवान् के स्वरूप में अर्पण कर देना।

रागात्मिका भक्ति-

जब नवधा भक्ति अपनी चरम अवस्था में होती है, तब रागात्मिका भक्ति की शुरूआत होती है। जब नवधा भक्ति में साधक चरम अवस्था को पार कर जाता है और अन्तःकरण में एक अलौकिक भगवत्प्रेम भाव उत्पन्न होने लगता है, तो रागात्मिका भक्ति की एक आनुभूतिक अवस्था है। ऐसी अवस्था में साधक अपने आराध्य की झलक का अनुभव कर सकता है। उसे अपने आराध्य सभी जगह पर दिखाई देने लगते हैं, वह भी सजीव। यही रागात्मिका भक्ति कहलाती है।

पराभक्ति-

रागात्मिका भक्ति की चरम अवस्था है- पराभक्ति। यह साधक की उत्कृष्ट ओर अन्तिम पराकाष्ठा है। पराभक्ति में द्वैत नहीं रहता है, इस अवस्था में उपासक और आराध्य एक हो जाते है और साधक को एकमात्र ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। महर्षि पतंजलि ने इसी अवस्था को योगदर्शन में कैवल्य कहा है।

कर्मयोग

'कृ' धातु में 'मन्' प्रत्यय लगने से कर्म शब्द की निष्पत्ति होती है। कर्म का अर्थ है, कर्म, क्रिया, व्यापार, भाग्य आदि। हम कह सकते हैं कि जिस कार्य में कर्ता की क्रिया का फल निहित होता है, वही कर्म कहलाता है। कर्म करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है तथा कर्म के बिना मनुष्य का जीवित रहना असम्भव है। कर्म करने की इस प्रवृत्ति के संबन्ध में भगवान् श्री कृष्ण गीता में कहते हैं :

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।[1]

अर्थात् इस विषय में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता; क्योंकि सभी मानव प्रकृतिजनित गुणों के कारण कर्म करने

1. गीता 3/5

के लिए बाध्य होते हैं। मनुष्य को न चाहते हुए भी कुछ-न-कुछ कर्म करने होते हैं और ये कर्म ही बन्धन के कारण हैं। साधारण अवस्था में किये गये कर्मों में आसक्ति बनी रहती है; जिससे कई प्रकार के संस्कार उत्पन्न होते हैं। इन्हीं संस्कारों के कारण मनुष्य जीवन-मरण के चक्र में फंसा रहता है। जबकि ये कर्म यदि अनासक्त भाव से किये जाते हैं, तो यह मोक्षप्राप्ति का मार्ग बन जाते हैं।

कर्म से व्यक्ति बंधन में बँधता है, किन्तु गीता ने कार्य में कुशलता को योग कहा है। योग की परिभाषा देते हुए गीता में कहा है :

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।[1]

अर्थात् कर्मों को कुशलतापूर्वक करना ही योग है। कर्मयोग साधना में मनुष्य बिना कर्मबंधन में बँधे कर्म करता है तथा वह सांसारिक कमों को करते हुए भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है। कर्मयोग का गूढ रहस्य अर्जुन को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! शास्त्रों के द्वारा नियत किये गये कर्मों को भी आसक्ति त्यागकर ही करना चाहिए; क्योंकि फलासक्ति को त्यागकर किये गये कर्मों में मनुष्य नहीं बँधता। इसीलिए इस प्रकार वे कार्य मुक्तिदायक होते हैं।

कर्मयोग की साधना में अभ्यासरत साधक धीरे-धीरे सभी कर्मों को भगवान् को अर्पित करने लगता है, और साधक में भक्तिभाव उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में साधक जो भी कर्म करता है, वह परमात्मा को अर्पित करते हुए करता है। साधक परमात्मा में अपनी श्रद्धा बनाए रखते हुए उत्साह के साथ कर्म करता है। इस सम्बन्ध में गीता में कहा गया है :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।[2]

---

1. गीता 2/50
2. गीता 9/27

अर्थात् हे अर्जुन! तू जो भी कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दानादि देता है, जो तप करता है; वह सब मुझको अर्पण कर। ईश्वर के प्रति समर्पित कर्म व उसके फल सम्बन्ध को बताते हुए कहा गया है :

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।[1]

अर्थात् ब्रह्म को अर्पित करके अनासक्तिपूर्वक कर्म करने वाला उसके फल से वैसे ही अलग रहता है, जैसे जल में कमल का पत्ता। कर्मयोग की साधना में रत व्यक्ति में उच्च अवस्था की स्थिति आने पर स्वयं कर्ता की भावना समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में साधक अनुभव करता है कि मेरे द्वारा जो भी कर्म किये जा रहे हैं, उन सबको करने वाले ईश्वर ही हैं।

इस प्रकार से साधक कर्म करता हुआ भी बंधन से मुक्त रहता है। उसके द्वारा किये गये कर्म से किसी भी प्रकार के संस्कार उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार के कर्म मुक्ति को दिलाने वाले होते हैं। कर्मयोग की साधना से साधक के लौकिक व पारमार्थिक दोनों पक्षों का उत्थान होता है। कर्मयोग के मार्ग से ही साधक गृहस्थजीवनयापन करते हुए भी साधना कर सकता है तथा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

कर्म के भेद :

शास्त्रों के अनुसार कर्म मुख्य रूप से दो प्रकार के होते है : **विहित कर्म**, **एवं निषिद्ध कर्म**

क. विहित कर्म– सुकृत कर्म अर्थात् अच्छे कर्म इसके भी चार भेद हैं :

1. नित्य कर्म– प्रतिदिन किये जाने वाले कर्म; जैसे वन्दना, पूजा, अर्चना, सन्ध्या इत्यादि।

---

1. गीता 5/10

2. नैमित्तिक कर्म– जो कर्म किसी प्रयोजन के लिए किये जाते हैं। उदाहरणार्थ किसी त्यौहार या पर्व पर अनुष्ठान करना; जैसे पुत्र के जन्म होने पर जातकर्म, बड़े होने पर यज्ञोपवीत इत्यादि।

3. काम्य कर्म– ऐसे कर्म, जो किसी कामना या किसी प्रयोजन के लिए किये जाते है। जैसे नौकरी प्राप्ति के लिए, पुत्र की प्राप्ति के लिए, स्वर्ग की प्राप्ति के लिए, अकाल पड़ने पर वर्षा करवाने के लिए हवन या अनुष्ठान इत्यादि- ये काम्य कर्म है।

4. प्रायश्चित कर्म– जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है कि अगर किसी व्यक्ति द्वारा कोई अनैतिक काम या पाप हो जाये, तो उसके प्रायश्चित के लिए वह जो कर्म करता है; उन्हें प्रायश्चित कर्म कहते है।

ख. निषिद्ध कर्म

निषिद्ध कर्म अर्थात् जो कर्म शास्त्र के अनुकल नहीं है। चोरी, हिंसा, झूठ, व्याभिचार इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

हम जो भी कर्म करते हैं, हमारा मन उसे करने या न करने के लिए प्रेरित करता है।

गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के बताये है; जो इस प्रकार है :

कर्म– शास्त्रों एवं वेदों के अनुकूल किये गये कर्म।

अकर्म– अर्थात् कर्म का अभाव।

विकर्म– अर्थात् जो निषिद्ध (पाप) कर्म है, वह विकर्म है।

कर्म मुख्य रूप से गीता में दो प्रकार से कहे गए हैं :

- **सकाम कर्म–** स्वयं के लाभ के लिए
- **निष्काम कर्म–** स्वार्थहीनता वाले

हठयोग

हठयोग का अर्थ एवं परिभाषाएँ :

योगशिखोपनिषद् में भी हकार को सूर्य तथा ठकार को चन्द्र मानकर सूर्य और चन्द्र के संयोग को हठयोग कहा गया है :

हकारेण तु सूर्यस्स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्यचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते।।[1]

हठ

हं- सूर्यस्वर, ग्रीष्म, दिन, शिव, पिंगला- दाहिना, ब्रह्म, दक्षिण

ठं- चन्द्रस्वर, शीतल, रात, शक्ति, इडा- बायाँ, जीव, वाम।

हठयोग में जब इडा और पिङ्गला नाडी अर्थात् वाम और दक्षिण स्वर जब एक समान चलने लगें, तो सुषुम्ना का जागरण होता है। जब सुषुम्ना निरन्तर चलने लगती है, तब शरीर में सूक्ष्म रूप में विद्यमान कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। जब कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है तब वह अष्ट चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में जाकर परमशिव से मिलती है। आध्यात्मिक अर्थों में यही हठयोग है।

हठयोग का परिचय एवं उद्भव

भगवान् शिव हठयोग के प्रथम वक्ता हैं। उनके बाद मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ इसके मुख्य आचार्य हुए गोरखनाथ ने एक पंथ भी चलाया है; जिसके अनुयायी कनफटे या नाथ कहलाते हैं। पतंजलि के योग के दार्शनिक अंश को छोड़कर उसकी साधना के अंश को लेकर जो विस्तार किया गया है; वही हठयोग है[2]।

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार हठयोग का आरम्भ आदिनाथ से माना गया है :

---

1. योगशिखोपनिषद्
2. शब्दसागर

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या[1]

अर्थात् मैं उस आदिनाथ को नमस्कार करता हूँ, जिसने हठयोग की विद्या अर्थात् साधना की विधि का सर्वप्रथम उपदेश किया है।

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना[2]

अर्थात् योगी स्वात्माराम गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और उनके भी गुरु आदिनाथ इस गुरुपरम्परा को प्रणाम करके हठयोग की साधना का उपदेश कर रहे हैं।

हठयोग प्राणों को साधने की कला है। प्राणों को साधकर मन पर नियन्त्रण किया जा सकता है। हठयोग शरीर-आधारित योग साधना है। अन्नमय और प्राणमय कोष जिसे देह और प्राण कहा जाता है। इन्ही की शुद्धि हठयोग का लक्ष्य है।

सर्वे हठलयोपायाः राजयोगस्य सिद्धये।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः॥[4]

अर्थात् हठयोग की सभी साधनाएँ और राजयोग तक पहुँचने के लिए हैं; क्योंकि जिसने राजयोग में सिद्धि प्राप्त कर ली, वह मृत्यु को भी जीत लेता है।

हठयोग का विकासक्रम :

योग को सनातन परम्परा भी कहते हैं। सर्वप्रथम हठयोग की विद्या का उपदेश आदिनाथ शिव ने माता पार्वती को दिया था। इसलिए हठयोग के अधिकांश ग्रन्थ शिव-पार्वती-संवाद के रूप में हैं। प्राचीन काल में एक बार भगवान् शिव माँ पार्वती को लेकर भ्रमण पर निकले थे। भ्रमण के दौरान दोनों एक सरोवर के किनारे बैठ जाते है और माँ पार्वती की इच्छा पर भगवान् शिव उन्हें हठयोग की शिक्षा देते है।

---

1. हठयोगप्रदीपिका 1/1
2. वहीं 1/2
3. वहीं 1/1
4. वहीं 4/103

भगवान् शिव द्वारा दी गई यह शिक्षा सरोवर में एक मछली सुन लेती है। जब भगवान् शिव को इस बात का आभास होता है, तो वह उस मछली को अपनी योगशक्ति द्वारा मत्स्येन्द्र नाथ बना देते है। स्वयं हठप्रदीपिका के प्रणेता स्वात्माराम जी हठप्रदीपिका की शुरुवात करते कहते है। अतः अब यह स्पष्ट हो चुका है कि भगवान शिव ही हठयोग के आदि प्रणेता है। पुनः स्वात्माराम कहते है-

हठविद्या मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्याः विजानते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः॥ ह.प्र.1/4

अर्थात् हठयोग की साधना विधि को मत्स्येद्रनाथ, गोरखनाथ आदि भली प्रकार जानते हैं और उनकी कृपा के कारण योगी आत्माराम जानते हैं; अन्य लोग नहीं। कुछ विद्वानों का मानना है कि हठयोग का उद्भव तन्त्रशास्त्रों में बिखरे योगज्ञान को विशिष्ट शाखा के रूप में नाथयोगियों ने विशिष्ट पहचान दी है। आप्टे कोश के अनुसार-ना शब्द का अर्थ है- अनादि और नाथ शब्द का अर्थ है- भुवनत्रय का स्थापित होना। नाथ शब्द की व्युत्पत्ति नाथ् धातु से मानी गई है।[1]

बौद्ध धर्म के पतन के साथ ही नाथसम्प्रदाय का उदय हुआ। यह समय था सातवीं शताब्दी का, तभी हठयोग का प्रादुर्भाव हुआ। नाथ साधु योगी भगवान् शिव को अपना आराध्य देव मानते हैं।

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः।
.... ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते॥[2]

आदिनाथ के बाद मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गोपीनाथ आदि 84 सिद्धों के नामों का वर्णन है; जिसमें 100 नाथों ने इस परम्परा को आगे बढाया। जब चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी मे योग का पक्ष धूमिल हो गया था उसी समय में स्वामी स्वात्माराम ने हठयोग के सही पक्ष को हमारे समाज व विद्वानों के सामने रखा।

---

1. आप्टे कोश
2. हठयोग प्रदीपिका 1/5-9

नाथसम्प्रदाय की षडङ्ग की साधना :

नाथ सम्प्रदाय में षडङ्ग योगसाधना प्रचलित है। गोरक्षशतक में षडङ्ग का उल्लेख है :

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारस्य धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥[1]

अर्थात् आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि- ये छः अंग हैं। कहीं-कहीं योग के चार, सात, आठ या पन्द्रह अङ्ग भी माने गए हैं। **'सिद्धसिद्धान्तपद्धति'** एवं **दत्तात्रेयसंहिता** आदि ग्रन्थों में यम-नियम का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु यम-नियम को योगाङ्गों के रूप में संयुक्त न करके केवल षडङ्ग योग का ही निरूपण हुआ है।

आसन-(नाथ सम्प्रदाय) नाथ-योगसाधना का प्रथम अङ्ग है :

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते[2]

सदा निजस्वरूप अर्थात् चेतन आत्मा में स्थित हो जाने को 'आसन' कहते हैं। गोरक्षशतक में भगवान् शिवजी नें 84 लाख आसनों का वर्णन किया है। नाथ सम्प्रदाय की हठयोग साधना का यह प्रथम योगाङ्ग है :

चतुरशीतिलक्षाधिकैकं समुदाहृतम्।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम्॥[3]

भगवान् शिव ने चौरासी लाख आसनों को कहा है; जिनमें सोलह सौ विशिष्ट आसन हैं। इन सभी में केवल दो ही आसनों को सबसे मुख्य माना गया है : सिद्धासन और पद्मासन। नाथयोगसाधना में प्राणायाम का विशेष महत्त्व है। नाथ-सम्प्रदाय के अनुसार हमारे शरीर में 72000 नाडियां हैं; जिनका उद्‌गम स्थल मूल कन्द है।

---

1. गोरक्षशतकम्
2. योग प्रदीपिका 1/19
3. गोरक्षशतकम् 9

हठयोग की परिभाषाएँ (तन्त्रशास्त्र के अनुसार) :

राजयोग की उच्च स्थिति को प्राप्त करना ही हठयोग का उद्देश्य है। मूलाधार में स्थित शक्ति का सहस्रार में स्थित शिव से मिलन ही हठयोग है।

शिवसंहिता

प्राणापानौ नादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनौ।
मिलित्वा घटते यास्मात्तस्माद् वै घट उच्यते।।

अर्थात् जिसमें प्राण और अपान, नाद और बिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाता है; उसी को घट अवस्था या हठयोग कहते हैं।

जब प्राणायाम और बन्ध का अभ्यास कर अपान को ऊपर खींचकर प्राण से मिलाया जाता है, तो हठयोगसाधना कहलाती है। यह बात स्पष्ट है कि शरीर और मन के बीच में एक कडी है; जो दोनों से जुडी है। वह है– प्राण। प्राण के सध जाने से मन भी सध जाता है। हठयोग प्रदीपिका में कहा है–

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।।[1]

अर्थात् वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चञ्चल होता है एवं वायु के स्थिर होने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है। स्थूलशरीर पर प्रयोग करके प्राण को प्रभावित किया जा सकता है और प्राण के माध्यम से सूक्ष्मशरीर को की प्रभावित किया जा सकता है।

हठयोग का उद्देश्य–

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते[2]

अर्थात् केवल राजयोग (समाधि) के लिए ही हठयोग का उपदेश दिया जा रहा है।

पीठानि कुम्भकश्चित्ताः दिव्यानि करणानि च।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधिः।।[3]

1. हठयोगप्रदीपिका 2/2
2. हठयोगप्रदीपिका 1/2
3. हठयोगप्रदीपिका 1/69

अर्थात् अनेक प्रकार के आसन, कुम्भक क्रियाएँ तब तक राजयोग अर्थात् समाधिरूपी फल प्राप्त नहीं करवा पाती, जब तक हठयोग का अभ्यास न किया जाए।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः॥[1]

जो व्यक्ति संसार के अनन्त कष्टरूपी ताप से तप रहे हैं, उनके लिए हठयोग की साधना सुखदायक घर के समान है। और जो साधक विविध प्रकार की योग साधनाओं में लगे हैं, उनके लिए हठयोग की साधना उसी प्रकार आधारभूत है; जिस प्रकार समुद्रमन्थन के समय मन्दराचलरूपी मथनी के लिए कच्छपरूपी आधार बना हुआ था।

जब किसी को अन्य साधन से समाधि प्राप्त न हो रही हो, वे सभी साधक हठयोग की साधना करें। बोधी अवस्था को प्राप्त करने का साधन हठयोग है।

हठविद्या परं गोप्यं योगिनां सिद्धिमिच्छता।
भवेद् बलवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता॥[2]

हठविद्या की साधना परम गोपनीय है, इसलिए इसका प्रकाशन अर्थात् दिखावा व प्रदर्शन न करें। साधना गुप्त रखने पर बलवती होती है और प्रकाशित करने पर निष्फल हो जाती है। स्वास्थ्य संरक्षण, रोग से मुक्ति, सुप्त चेतना की जागृति, व्यक्तित्व विकास तथा आध्यात्मिक उन्नति इस विद्या के मुख्य उद्देश्य हैं।

राजयोग

सब योगों में प्रधान होने से इसे 'राजयोग' कहते हैं। राजयोग समाधि का वाचक है। समाधि योग का अन्तिम सोपान है। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग को ही राजयोग कहते हैं। सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंद जी ने राजयोग की चर्चा की थी। उनकी सबसे प्रसिद्ध

1. हठयोगप्रदीपिका 1/10
2. हठयोगप्रदीपिका 1/11

पुस्तकों में 'राजयोग' एक है; जो जुलाई 1896 ई. में प्रकाशित हई। योग को सबसे पहले वैश्विक स्तर पर ले जाने का श्रेय स्वामीजी को ही दिया जाता है। इस पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द ने राजयोग या अष्टांग योग की न सिर्फ व्याख्या की है, बल्कि इस पथ पर चलने के लिए आवश्यक साधनों और परिणामों की भी गंभीर चर्चा है। योग के विषय में यह एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

राजयोग शब्द अनेक उपनिषदों में प्राप्त होता है। कदाचित् योग के राजा के रूप में इसका प्रयोग किया गया है। सभी प्रकार के योगों का लक्ष्य समाधि की अवस्था प्राप्त करना है। जबकि राजयोग के साधक सीधे समाधि अवस्था से ही साधना प्रारम्भ करता है। इसलिए सभी योग मार्गों के साधनों में श्रेष्ठ होने के कारण इसे राजयोग कहा जाता है।

'राजृ दीप्तौ' धातु से निष्पन्न 'राज' शब्द दीप्ति अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि राजयोग की सिद्धि होने पर साधक का चित्त मलों से रहित हो जाता है और कांतियुक्त हो जाता है। 'योग स्वरोदय' नामक में राजयोग की परिभाषा देते हुए कहा गया है[1]–

जिस प्रकार आकाश में भ्रमण करता हुआ वायु मलिन रहता है, उसी प्रकार मन को शून्य में लीन करना राजयोग है। 'योगशिखोपनिषद्' में राजयोग की परिभाषा देते हुए कहा गया है : **रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।**[2]

अर्थात् राजरूपी कुण्डलिनी शक्ति का रेतरूपी शिव के साथ मिलन अर्थात् आत्मतत्त्व का ब्रह्मतत्त्व के साथ मिलन राजयोग है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजयोग में ब्रह्म के साथ एकत्व को योग की संज्ञा दी गई है। इसमें साधक का जीवात्मा ब्रह्म से मिलकर उसी का अंश हो जाता है। उस अवस्था में द्वैत भाव नहीं रहता। यही सब योग मार्गों का परम लक्ष्य है। उस समय साधक के लिए समस्त जगत् का

---

1. योग स्वरोदय ग्रंथ
2. योगशिखोपनिषद्

लोप हो जाता है, दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। साधक की अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति हो जाती है। राजयोग के तीन प्रकार के अधिकारी कहे जाते हैं : (अ) उत्तम, (ब) मध्यम, (स) अधम यह विभाग साधना के स्तर को ध्यान में रखकर किया है। उत्तम कोटि के साधक वे हैं, जिन्हें केवल अभ्यास और वैराग्य के द्वारा समाधि सिद्ध हो जाती है। महर्षि पतंजलि भी अष्टांग योग में चित्तवृत्ति निरोध के मुख्य उपायों का वर्णन करते हुए करते हैं : **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**[1] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है अथवा उत्तम कोटि के साधकों को केवल ईश्वरप्राणिधान के द्वारा ही समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। महर्षि पतंजलि कहते हैं :

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्
त्रयमेकत्र संयमः।[2]

अर्थात् जब धारणा ध्यान और समाधि ये मिलकर एक हो जाएँ, तो उस अवस्था का नाम संयम है। यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि राजयोग की साधना में साधक के लिए धारणा, ध्यान और समाधि का निरन्तर अभ्यास करना बताया गया है; क्योंकि इनके अभ्यास से चित्त एकाग्र हो पाता है और एकाग्र हुए चित्त से ही चित्त की वृत्तियों का निरोध संभव है। निरोध के पश्चात् ही आत्मानुभूति सम्भव है। इन साधनों के साथ-साथ यम-नियम का पालन तथा प्राणायाम का अभ्यास सहायक के रूप में राजयोग में वर्णित किया गया है क्योंकि यम-नियम के पालन से चित्त में किसी भी प्रकार का कालुष्य उत्पन्न नहीं होता। प्राणायाम का लाभ बताते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं : **धारणासु च योग्यता मनसः।** प्राणायाम के अभ्यास से चित्त में धारणा की योग्यता उत्पन्न होती है। चित्त एक विषय पर ठहरने लगता है जिसके निरन्तर अभ्यास से ही ध्यान व समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। योगवासिष्ठ

1. योगसूत्राणि
2. योगसूत्राणि

में कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यासी साधक को राज से मोक्ष तक सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार राजयोग में प्राणायाम भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। राजयोग की महत्ता को सभी योगमार्गियों ने स्वीकार किया है। सभी का लक्ष्य राजयोग अर्थात् समाधि की प्राप्ति है। प्रत्येक योगमार्ग की अंतिम परिणति समाधि में ही होती है। हठयोगी भी हठयोगसाधना राजयोग की प्राप्ति के लिए ही करते हैं। योगी स्वात्माराम हठयोग विद्या का उपदेश करते हुए कहते हैं : **'केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते'** अर्थात् मैं इस हठ विद्या का उपदेश केवल राजयोग की प्राप्ति के लिए कर रहा हूँ। इस प्रकार राजयोग की सिद्ध करने योग्य योग है; क्योंकि इसी के माध्यम से योगी अपने स्वरूप को पहचानता है। शास्त्रों में चार प्रकार के राजयोगियों का वर्णन प्राप्त होता है :-

1. प्रथम कल्पित, 2. मधुभूमिक, 3. मधु प्रतीक, 4. अतिक्रान्त भणनीय।

1. इनमें प्रथम कल्पित योगी को नौसिखिया प्रारंभिक साधक कहा जा सकता है; जो सवितर्क समाधि का अभ्यास करता है।
2. मधुभूमिक योगी इससे थोड़ा उच्च कोटि का होता है; जो निर्वितर्क समाधि का अभ्यास करता है।
3. अतिशान्त भणनीय योगी अस्मितानुगत समाधि सिद्ध होते हैं। तथा उन्हें ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है; जिससे उन्हें असंप्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त होता है। इसका निरन्तर अभ्यास करने से जब ऋतम्भरा प्रज्ञा के लिए भी साधक के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तो चित्त का कार्य पूर्ण होने से वह अपने 'कारण प्रकृति' में लीन हो जाता है और आत्मा अकेला रह जाता है। वह चित्त से प्रभावित नहीं होता है इसी को योग में कैवल्य के नाम से पुकारा जाता है। जिसे मोक्ष या मुक्ति भी कहते हैं : **ईश्वरप्राणिधानाद्वा।**[1]

---

1. योगसूत्राणि 1/23

अर्थात् ईश्वरप्राणिधान से समाधि सिद्ध होती है। ये दोनों बातें उत्तम कोटि के साधकों के लिए कही गई हैं। ऐसे साधकों की पूर्वजन्म की साधना उच्चकोटि की होती हैं। उन्हें योग के दूसरे अंगों का पालन करना अनिवार्य नहीं होता है। ये सीधे समाधि की अवस्था में प्रवेश करते हैं।

मध्यम कोटि के साधकों को योग उत्तम कोटि के साधकों की अपेक्षा कुछ कठिनता से सिद्ध होता है। उनके पूर्व जन्मों के संस्कार योग साधनों के तो हैं, किन्तु इतने उन्नत नहीं होते कि उन्हें सीधे समाधि की प्राप्ति करा सकें। इनके लिए राजयोग में क्रियायोग का वर्णन किया गया है। क्रियायोग का वर्णन करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं :

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।[1]

अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान क्रियायोग है। मध्यम कोटि के साधकों को शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख आदि को सहन करने की आदत अपने शरीर को डालनी होती है। मन में धैर्य और सभी अवस्थाओं में चित्त को समान बनाए रखने का अभ्यास करना होता है। साथ ही आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन और ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव रखना होता है। तभी वे समाधि को प्राप्त कर पाते हैं।

अधम कोटि के साधकों अर्थात् जिन्होंने अभी तक योगसाधना प्रारम्भ नहीं की है। उन्हें अष्टांग योग की साधना का अभ्यास करना आवश्यक है; क्योंकि योग के सभी अंगों के पालन से उनका शरीर और मन सबल एवं शुद्ध हो सकेगा। तत्पश्चात् एकाग्र होकर समाधि लाभ प्राप्त कर सकेगा। राजयोग की साधना मे साधक की स्थिति जिस स्तर पर होगी, वैसी ही उसको योगसिद्धि प्राप्त होगी।

राजयोग की साधना प्रणाली अलग-अलग नामों से प्रचलित है। कहीं इसे ध्यानयोग के नाम से जाना जाता है। महर्षि पतंजलि ने यही साधना प्रणाली अष्टांग योग के नाम से निष्पादित की है। यही सभी

---

1. योगसूत्राणि 2/1

योगों में श्रेष्ठ है। इससे जिस स्तर का साधक होता है, वैसी ही साधना करके वह योगमार्ग में आगे बढ़ सकता है।

अष्टांग योग

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग दर्शन में अष्टांग योग की साधना का वर्णन प्राप्त होता है। अष्टांग का अर्थ है- अष्ट+अंग= अष्टांग; अर्थात् आठ अंगों वाली साधना अष्टांग साधना कहलाती है।

महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में तीन प्रकार की योग साधनाओं का वर्णन किया है :

1. प्रथम साधना उत्तम कोटि के साधकों के लिए है। उत्तम कोटि के साधक ईश्वरप्रणिधान द्वारा भी साधना करके समाधि को प्राप्त कर सकते हैं। इसी आधार पर सूत्रों का कथन किया गया है।
2. मध्यम कोटि के साधकों के लिए महर्षि पतंजलि ने दूसरे अध्याय में क्रियायोग का वर्णन किया है। क्रियायोग का अर्थ बताते हुए कहा गया है :

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः[1]

तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान की संयुक्त साधना क्रिया योग कहलाती है; जिसका उद्देश्य समाधि भाव को प्राप्त करना व क्लेशों को क्षीण करना है।

3. सामान्य कोटि के साधकों के लिए है; जिनका न तो शरीर शुद्ध है, और न ही मन। ऐसे साधकों को प्रारम्भ से ही साधना करते हुए महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांगयोग का आश्रय लेना चाहिए। जिससे साधक शरीर व मन की शुद्धि करके परिणामस्वरूप एकाग्रता अवस्था को प्राप्त कर समाधिस्थ हो कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग को दो भागों में विभाजित किया है :

1. बहिरंग योग, 2. अन्तरंग योग।

---

1. योगसूत्राणि 2/1

बहिरंग योग

1. बहिरंग योग मे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, आते हैं।

जो अवांछनीय कार्यों से निवृति व मुक्ति दिलाता है, वह 'यम' कहलाता है। यम-शब्द संस्कृत की दो धातुओं से निर्मित हुआ है :

1. **यम् उपरमे–** ब्रह्म में रमण करना, संयम, आत्मनियंत्रण।
2. **यम् परिवेषणे–** सामाजिक बंधन, दमन करना, संयत करना आदि।

त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद में कहा गया है।[1]

अर्थात् यम शरीर और इन्द्रियों में वैराग्य की स्थिति है; ऐसा बुद्धिमान लोग मानते हैं। **यम्यते नियम्यते चित्तिः अनेन इति यमः।** अर्थात् चित्ति को नियम पूर्वक चलाना यम कहलाता है।

पातंजल योगसूत्र यहाँ पाँच प्रकार के यमों का वर्णन मिलता है :

अहिंसा सत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः[2]

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये पाँच यम हैं। इन्हें सार्वभौम महाव्रत कहा गया है : **जातिदेशकाल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।**[3] ये महाव्रत तब बनते हैं; जब इन्हें जाति, देश, काल तथा समय की सीमा में न बाँधा जाये।

क. अहिंसा– अहिंसा का अर्थ है- सदा और सर्वदा किसी भी प्राणी को मन, वचन, कर्म से कष्ट न देना।

याज्ञवल्क्यसंहिता में कहा गया है :

मनसा कर्मणा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिकः।।[4]

अर्थात् मन, वचन एवं कर्म द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा कहलाता है।

---

1. त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद 29
2. योगदर्शन 2/30
3. योगसूत्र 2/31
4. याज्ञवल्क्य संहिता

योगसूत्र में अहिंसा के फल के बारे में लिखा है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः[1]

अर्थात् अहिंसा की पूर्णता और स्थिरता होने पर साधक के सम्पर्क में आने वाले सभी प्राणियों की हिंसा की प्रवृत्ति दूर हो जाती है। यह अहिंसा का मापदण्ड है।

ख. सत्य– मन, वचन और कर्म में एकरूपता। अर्थात् जैसा देखा और अनुमान करके बुद्धि से निर्णय किया अथवा सुना हो, वैसा ही वाणी से कथन कर देना और बुद्धि में धारण करना सत्य है।

सत्य के फल के बारे में बताते हुए योगदर्शन में कहा है–

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्[2]

अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा होने पर वाणी और विचारों में शक्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी बोलता है, वह फलित होने लगता है अर्थात् वह वाक् सिद्ध हो जाता है।

ग. अस्तेय– लोभ के वशीभूत होकर, शास्त्रों की मर्यादा को तोड़कर, अन्याय द्वारा दूसरों के पदार्थों को बलपूर्वक या छल–कपट से ग्रहण करना स्तेय (चोरी) है। इसका त्याग करना, अर्थात् चोरी को छोड़ना, अस्तेय कहलाता है। मन, वचन, कर्म से दूसरे के द्रव्य की इच्छा न करने को ही अस्तेय कहते हैं।

योगसूत्र में अस्तेयसिद्धि के विषय में कहा है–

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्[3]

अर्थात् अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सभी रत्नों की प्राप्ति होती है।

घ. ब्रह्मचर्य– मन को ब्रह्म या ईश्वर के परायण बनाये रखना ही ब्रह्मचर्य है। वीर्यशक्ति की अविचल रूप में रक्षा करना या धारण करना है। ब्रह्मचर्य सिद्ध कर लेने वाले साधकों के संबंध में पातंजल

1. योगदर्शन 2/35
2. वहीं 2/36
3. वहीं 2/37

योगसूत्र में कहा गया है : **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**[1] अर्थात्-ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को वीर्यलाभ होता है। वीर्यलाभ होने से साधना के अनुकूल गुणसमूह पैदा होते हैं; जिससे योगाभ्यासी को आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

ङ. अपरिग्रह– आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है। संचयवृत्ति का त्याग अपरिग्रह है। इन्द्रियों को वश में रखने से विषयों के भोग से पूर्ण विरक्त हो जाता है। ऐसे आचरण से अपरिग्रह की सिद्धि होती है। पूर्ण अपरिग्रह को प्राप्त साधक में काल-ज्ञान संबंधी सिद्धि आ जाती है। योगदर्शन में इस संबंध में कहा गया है :

अपरिग्रहस्थैर्यजन्मकथन्तासम्बोधः[2]

अर्थात् अपरिग्रह के स्थिर होने से जन्म-जन्मान्तर का ज्ञान प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्वजन्म में हम क्या थे, कैसे थे। इस जन्म की परिस्थितियाँ ऐसी क्यों हुई एवं हमारा भावी जन्म कब, कहाँ, कैसा होगा। इस ज्ञान का उदय होना अपरिग्रह साधना द्वारा ही सम्भव होता है। यम व्यक्ति के जीवन का सामाजिक एवं बाह्य क्रियाओं को सामंजस्य पूर्ण बनाते हैं।

नियम-

नियम का तात्पर्य आन्तरिक अनुशासन से है। अपने जीवन में इस अनुशासन को उत्पन्न और विकसित करना आवश्यक है। योगदर्शन में कहा गया है :

शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।[3]

अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान- ये 5 नियम हैं।

क. शौच– शौच का अर्थ है : परिशद्धि, सफाई, पवित्रता। शौच मुख्यतः दो प्रकार के है : बाह्य और आभ्यन्तर।

---

1. योगदर्शन 2/38
2. वहीं 2/39
3. वहीं 2/32

1. **बाह्य शौच–** जल व मिट्टी आदि से शरीर की शुद्धि स्वार्थ त्याग, सत्याचरण से मानव व्यवहार की शुद्धि, विद्या व तप से पंचभूतों की शुद्धि, ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि– ये सब बाह्य शुद्धि कहलाती है।

2. **आभ्यन्तर शौच–** अंहकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध आदि मलों को दूर करना आभ्यन्तर शुद्धि कहलाती है। योगसूत्र में इसके फल के विषय में कहा है :

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः[1]

अर्थात् शुद्धि का मनसा, वाचा, कर्मणा पालन करने से स्वयं शरीर अवयवों के प्रति घृणा का भाव तथा अन्य व्यक्तियों के साथ शारीरिक संपर्क बनाने की [आकांक्षा] इच्छा का अभाव घटित होता है।

ख. सन्तोष– सन्तोष अर्थात् सन्तुष्टि का होना है। अन्तःकरण में सन्तुष्टि के भाव उदय हो जाना ही सन्तोष है। अर्थात् अत्यधिक पाने की इच्छा का अभाव ही सन्तोष है। योगसूत्र में सन्तोष का फल बताते है :

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।[2]

अर्थात् चित्त में सन्तोष भाव प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को निश्चय सुख अर्थात् आनन्द प्राप्त होता है।

ग. तप– तप योगसाधना में उपस्थित होने वाले विक्षेप, सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, मान–अपमान, सुख–दुःख, हर्ष–शोक इत्यादि द्वन्द्वों को सहन करते हए अपने पथ पर आगे बढ़ते जाना ही तप है। योगदर्शन में फल बताते हुए कहा है : **कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**[3] अर्थात् मानसिक, वाचिक, कायिक तप के अनुष्ठान द्वारा अशुद्धि का क्षय हो जाने से,

---

1. योगदर्शन 2/40
2. वहीं 2/42
3. वहीं 2/43

साधक को शरीर और इंद्रियों से संबंधी विभिन्न आंतरिक क्षमताओं की प्राप्ति होती है।

घ. स्वाध्याय– स्वाध्याय का तात्पर्य है आचार्य विद्वान् तथा गुरुजनों से वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि मोक्षशास्त्रों का अध्ययन करना है। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है- स्वयं का अध्ययन करना। यह भी स्वाध्याय ही है।

महर्षि व्यास जी ने लिखा है कि प्रणव अर्थात् ओंकार मन्त्र का विधि पूर्वक जप करना स्वाध्याय है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार :

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः[1]

अर्थात् प्रणव आदि पवित्र शब्दों का जप तथा मोक्ष आदि शास्त्रों के अध्ययनरूप स्वाध्याय के निरंतर करने से इष्ट दिव्य आत्माओं के साथ संपर्क होने लगता है।

ङ. ईश्वर प्रणिधान– ईश्वर की उपासना या भक्ति विशेष को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं। सब कुछ परमेश्वर के निमित्त अर्पित कर देना ईश्वरप्रविधान है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार :

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्[2]

अर्थात् मन, वाणी तथा शरीर की समस्त क्रियाओं को प्रभु के प्रति सविनय समर्पित कर देना। ईश्वर-प्रणिधान का निरन्तर अभ्यास करने से साधक को समाधि-अवस्था की प्राप्ति होने लगती है।

3. आसन– आसन शब्द के दो अर्थ है- पहला किसी आधार पर बैठने का स्थान, या शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ। दूसरा अर्थ शारीरिक अवस्था शरीर मन और आत्मा जब एक संग और स्थिर हो

---

1. योगदर्शन 2/43
2. वहीं 2/45

जाता है, उससे जो सुख की अनुभूति होती है; वह स्थिति आसन कहलाती है। योगदर्शन के अनुसार :

स्थिरसुखमासनम्[1]

अर्थात् स्थिरता और सुखपूर्वक बैठना आसन कहलाता है।

4. प्राणायाम– प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना है= प्राण+आयाम। प्राण का अर्थ होता है, जीवनी शक्ति तथा आयाम के दो अर्थ हैं– 1. नियन्त्रण करना, रोकना तथा 2. लम्बा या विस्तार करना। प्राण वायु का निरोध करना प्राणायाम कहलाता है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार–

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः[2]

अर्थात् आसन में स्थिर हो जाने पर श्वास लेने व श्वास को छोड़ने की स्वाभाविक गति का विच्छेद होना प्राणायाम कहलाता है।

प्राणायाम के प्रकार–

महर्षि पतंजलि के योगदर्शन के अनुसार प्राणायाम के चार प्रकार हैं :

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।[3]

अर्थात् बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृति, स्तम्भवृत्ति– इन भेदों वाला प्राणायाम, देश, काल और संख्या के द्वारा नापा गया दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।[4]

अर्थात् चौथा प्राणायाम बाह्य और आभ्यन्तर विषयक प्राण के आक्षेप अर्थात् आलोचन स्वरूप वाला होता है।

---

1. योगदर्शन 2/46
2. वहीं 2/49
3. वहीं 2/50
4. वहीं 2/51

प्राणायाम का फल महर्षि पतंजलि योगदर्शन में कहते हैं :

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।[1]

धारणासु च योग्यता मनसः।[2]

अर्थात् प्राणायाम के नियमित अभ्यास से प्रकाशावरण कमजोर पड़ने लगता है तथा धारणाओं का अनुष्ठान कर सकने की मानसिक-सक्षमता की प्राप्ति भी होती है।

5. प्रत्याहार– प्रत्याहार का सामान्य अर्थ होता है : पीछे हटना उलटा होना, विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुख विषयों से अलग होकर अन्तर्मुख हो जाती है, इसलिए इसे प्रत्याहार कहा गया है। इन्द्रियों के संयम को प्रत्याहार कहते हैं।

पातंजल योग के अनुसारः-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।[3]

अर्थात् इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सम्पर्क न रहने पर, उनका चित्त के सदृश निरुद्ध-सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

पातंजल योग के अनुसार-

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्[4]

अर्थात् प्रत्याहार के घटित हो जाने पर साधक को सहज ही इन्द्रियों पर परमवशता प्राप्त हो जाती है।

2. अन्तरंग साधन

महर्षि पतंजलि ने निम्न तीन अन्तरंग साधन बताये हैं : धारणा, ध्यान, समाधि।

---

1. योगदर्शन 2/52
2. वहीं 2/53
3. वहीं 2/54
4. वहीं 2/55

1. धारणा– महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग के अन्तर्गत यह योग का छठा अंग है। मन (चित्त) को एक विशेष स्थान पर स्थिर करने का नाम धारणा है। वस्तुत: यह मन की स्थिरता का द्योतक है। इसमें चित्त की पूर्णता एकाग्रता की रहती है।

महर्षि पतंजलि अनुसार : **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**[1] अर्थात् (बाहर या शरीर के भीतर कही भी) किसी एक स्थान विशेष (देश) में चित्त को बाँधना धारणा कहलाता है।

2. ध्यान– धारणा की उच्च अवस्था ध्यान है। ध्यान शब्द की निष्पत्ति **'ध्यै चिन्तायाम्'** धातु से होती है; जिसका अर्थ होता है : चिन्तन करना। किन्तु यहाँ पर ध्यान का अर्थ चिन्तन का एकाग्रीकरण करना है। चित्त को एक ही लक्ष्य पर स्थिर करना; अर्थात् ईश्वर, परमपिता परमात्मा में अपने चित्त को एकाग्र कर देना ही ध्यान है।

योगशास्त्रों के अनुसार जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाना और ध्येयमात्र में एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके बीच में किसी दूसरी वृत्ति का नहीं उठना ध्यान कहलाता है।

महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में ध्यान को इस प्रकार वर्णित किया है : **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**[2] अर्थात् उस धारणास्थल में ध्येयविषयक ज्ञान का एक समान प्रवाह बने रहना, अन्य ज्ञान का मध्य में न आना, ध्यान कहलाता है।

3. समाधि

अष्टांग योग में समाधि का महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। यह साधना की चरम अवस्था है; जिसमें योगी का बाह्य जगत् के साथ संबंध टूट जाता है। यह योग की एक ऐसी दशा है, जिसमें योगी चरमोत्कर्ष की प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्नसर होता है। अत: मोक्ष प्राप्ति से पूर्व योगी को समाधि की अवस्था से गुजरना पड़ता है। योगशास्त्र में

---

1. योगदर्शन 3/1
2. वहीं 3/2

समाधि को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन माना है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार :

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।[1]

अर्थात् वह ध्यान ही जब ध्येय वस्तु मात्र भासात्मक हो जाता है तथा ध्याता स्वयं के होने की प्रतीति से रहित सा हो जाता है, तब इसे 'समाधि' कहते है।

समाधि की अवस्था को सीधे-सरल शब्दों में हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि धारणा और ध्यान की ही प्रगाढ़तम अवस्था समाधि है। किसी वस्तुविषयक ध्येय विषयक एकाग्रता प्रगाढ़तमकी अवस्था समाधि कहलाती है। इस अवस्था में ध्याता को ध्येयवस्तुमात्र की प्रतीति होती है अर्थात् वह ध्याता के रूप में स्वयं की समुपस्थिति को भी भूल-सा जाता है। इस अवस्था को समाधि कहते हैं।

लययोग

अर्थ एवं उद्देश्य

आर्ष-ग्रंथों में कहा गया है **'यत् पिंडे तत् ब्रह्माण्डे'** अर्थात् जो कुछ भी इस अखिल विश्व ब्रह्माण्ड में है, वह सब कुछ इसी मानव शरीर में है। पिण्डरूपी मनुष्य शरीर में ब्रह्माण्डव्यापिनी प्रकृति शक्ति का केंद्र, मूलाधार पद्म में स्थित, साढ़े तीन चक्र लगाए हुए सर्पाकार कुण्डलिनी है : ब्रह्माण्डव्यापी पुरुष का केंद्र, मनुष्य शरीर में सहस्त्रदल कमल (सहस्त्रार चक्र) है। उस निद्रित परमशक्ति कुण्डलिनी को गुरूपदिष्ट योगक्रियाओं से प्रबुद्ध करते हुए, सुषुम्ना नाड़ी में गुम्फित हुए षट्चक्रों के भेदन द्वारा ले जाकर, सहस्त्रदलकमल शायी परमपुरुष में लय करने की जो क्रिया (शैली) है; वह लययोग के अंतर्गत आती है। जिस प्रकार ब्रह्मांड में ब्रह्मलोक स्थित है, उसी तरह ब्रह्मलोक हमारे मस्तिष्क के मध्य भी स्थित है। साधक अपना संपूर्ण ध्यान ब्रह्मरंध्र पर केंद्रित करके ब्रह्म अर्थात ईश्वर में लीन हो जाना लययोग कहलाता है।

1. योगदर्शन 3/3

लययोग एक कला है स्वयं, को शांत कर, ईश्वर या ब्रह्मांड की शक्ति से जुड़कर शक्तिशाली बनने की। लययोग से तात्पर्य मन को लय कर देने से है। मन को लय करने के लिये साधक अपनी चेतना को बाह्य वृत्तियों से समेटकर अन्तर्मुख करके भीतर होने वाले शब्दों को सुनने की चेष्टा करे तथा अपने मन को वहीं पर केंद्रित करके उस में लीन हो जाना लययोग कहलाता है।

लययोग के सम्बन्ध में **'योगराज उपनिषद्'** में कहा गया है :

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा।
कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः॥[1]

अर्थात् वत्सराज आदि के द्वारा मन्त्रयोग सिद्ध किया गया तथा व्यास (कृष्णद्वैपायन) आदि ने लययोग को सिद्ध किया।

साधक 'अकार' और 'मकार' के दोनों पक्षों पर विजय प्राप्त करते हुए धीरे-धीरे प्रणव को पीने लगते हैं। नाद के प्रणव में संलग्न होने पर साधक ज्योतिर्मय हो जाता है और उस स्थिति में उसका मन लय हो जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से साधक मन को सब ओर से खींच कर परम तत्त्व में लीन कर लेता है। **यही लययोग कहलाता है।** इसे ही लययोग की परम उपलब्धि बतलाया जाता है। लय का अर्थ है- लीन होना, किसी में घुल जाना, विलीन हो जाना। आत्मा को परमात्मा में घुला देना, लीन कर देना लय योग का उद्देश्य है।

लययोग के विषय में **'योगशिखोपनिषद्'** में कहा गया है :

यो वात्मानं तु वै तस्मिन् मानवः कुरुते लयम्।
भवबन्धविनिर्मुक्तो लययोगं स आप्नुते॥[2]

जो मनुष्य अपने आपको उस ईश्वर में लय कर देता है, वह मनुष्य सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर लययोग को प्राप्त करता है।

---

1. योगराज उपनिषद्
2. योग शिखोपनिषद् 1

लययोगस्तु स एषो येन सन्धौतकल्मषः।
सच्चिदानन्दरूपेण साधकः सुखमाप्नुते॥[1]

यह लययोग वह है; जिस सच्चिदानन्द रूपयोग से जिसके, पाप नष्ट हो गये हैं। इस प्रकार का साधक सुख को प्राप्त करता है।

मुक्ति या समाधि अवस्था में आत्म विस्मृति हो जाती है, वैर मिट जाता है और एकाकार का आनन्द प्राप्त होता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का चतुष्टय यद्यपि आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित है, उसी की शक्ति लेकर गतिवान है; तो भी वह एक अलग इकाई के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जग में दिखाई देने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब यद्यपि सूर्य के कारण ही है, तो भी उस प्रतिबिम्ब का अस्तित्व एक अलग सत्ता के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का चतुष्टय अथवा एक पृथक् अस्तित्व बना लेता है; जिसे "जीव" नाम से पुकारते हैं।

लययोग की साधना-

हम देखते हैं कि अधिकांश मानव पग-पग पर दुःख, दारिद्र्य और क्लेश, कलहों का अनुभव करता रहता है। उनकी मनोभूमि शोक, सन्ताप, चिन्ता, भय, विरह, आशंका, ईर्ष्या, तृष्णा, घृणा, वासना, निराशा, कायरता, बेचैनी, लोलुपता आदि से मलीन हो रही है। वस्तुओं का संचय, अहंकार का पोषण, इन्द्रियों का भोग उन्हें पसंद है। इन तीनों बातों के लिए वे अपनी समस्त शक्तियाँ निचोड़े दे रहे हैं; तो भी अभीष्ट पूरा नहीं होता, सन्तोष नहीं मिलता। उलटे अशान्ति की ही दिन-दिन बढ़ोत्तरी होती चलती है। यह चीजें जितनी मात्रा में प्राप्त होती है, तृष्णा की जलन उतनी ही बढ़ती जाती है।

यह जीव भाव जब तक प्रबल है, तब तक तृष्णा, पाप और दुःख के त्रिविध चक्र से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं। उससे छुटकारा तभी मिल सकता है, जब जीव भाव की विस्मृति और आत्मभाव की

1. योग शिखोपनिषद् 2

जागृति हो जाए। जीवभाव को आत्मभाव में घुला देने, द्वैत को अद्वैत बना देने, बंधन से मुक्त होने का तरीका यही है कि अपने सीमित अहंकार को सर्वव्यापक परमात्मभाव में घोल दिया जाए। आत्मत्याग, आत्मदान, आत्मोन्नति, आत्मदर्शन, आत्मकल्याण, आत्मसाक्षात्कार कार्य प्रणाली इसी लययोग में होती है। इस अभ्यास में प्रवीण हो जाने पर मनुष्य वर्तमान परिस्थितियों को सांसारिक दृष्टि से देखना भूल जाता है। फलस्वरूप वे बातें भी उसे दु:खदायी प्रतीत नहीं होती, जिनके कारण साधारण लोग बहुत भयभीत और दु:खी रहते हैं।

लययोग का साधक कष्ट, पीड़ा या विपत्ति में भी आनन्द एवं कल्याण का अनुभव करता हुआ संतुष्ट रह सकता है। लययोग का आरंभ पाँच इन्द्रियों की, पंच तत्त्वों की, तन्मात्राओं पर काबू करने से होता है। धीरे धीरे यह अभ्यास बढ़ कर आत्मविस्मृति की पूर्ण सफलता तक पहुंच जाता है और जीवभाव से छुटकारा पाकर आत्मभाव की दिव्य स्थिति का आनन्द लेता है। नीचे पाँच अभ्यास लययोग के दिये जाते हैं। इनसे शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श की तन्मात्राओं पर अधिकार होता है।

लय योग के अंग :

लययोग के 9 अंग माने जाते हैं; जो इस प्रकार से है : यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि। इसमें स्थूल क्रिया का मंत्र क्रिया से, सूक्ष्म क्रिया का स्वरोदय क्रिया से, प्रत्याहार का नादानुसंधान क्रिया से तथा धारणा का षट्चक्र भेदन क्रिया से सम्बंध रहता है। हालाकि लययोग एक विस्तृत विषय है; लेकिन सामान्य जन यदि सिर्फ ब्रह्मरंध्र पर ही ध्यान देते रहें, तो लय सध जाता है; क्योंकि यही शक्ति का केंद्र है।

लययोग का उद्देश्य एवं लाभ– यह है कि मस्तिष्क शांत रहकर ब्रह्मलोक जैसा प्रकाशमान हो तथा मन निर्मल क्षीरसागर की तरह बनें। इसके लिए मस्तिष्क के ब्रह्मरंध पर ध्यान लगाकर चक्र और कुंडलिनी जागरण किया जाता है। उक्त ध्यान को निरंतर करते रहने से चित्त की चंचलता शांत होती है। ब्रह्मरंध (भृकुटी) पर निरंतर ध्यान देने

से व्यक्ति ब्रह्मांड की शक्ति से जुड़कर स्वयं को सकारात्मक उर्जा का स्रोत बना लेता है। ईश्वर से जुड़ने का यही एकमात्र साधन है। इससे मस्तिष्क निरोगी, शक्तिशाली तथा निश्चिंत बनता है। सभी तरह की चिंता, थकान और तनाव से व्यक्ति दूर होता है।

लययोग की सामान्य विधि– शांत स्थान पर सिद्धासन में बैठकर आँखें बंद कर ध्यान को मस्तिष्क के मध्य लगाएँ। मस्तिष्क के मध्य नजर आ रहे अंधेरे को देखते रहें और आनंदित होकर सांसों के आवागमन को महसूस करें। पांच से दस मिनट तक ऐसा करें। इस **'लययोग या नादयोग'** की साधना से बाहर की ध्वनियाँ स्वतः मिटने लगती है और **इस प्रकार के अभ्यास से चित्त की चंचलता मिटने लगती है और एकाग्रता बढ़ने लगती है।** नाद के प्रणव में संलग्न होने पर साधक ज्योतिर्मय हो जाता है और उस स्थिति में उसका मन लय हो जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से साधक मन की सब ओर से खींच कर परमतत्त्व में लीन कर लेता है।

लय योग की विशेष विधि-

पंच तत्त्वों से बने हुए स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों पर आत्मा का नियंत्रण स्थापन रूप साधना के लिए त्राटक का अभ्यास किया जाता है। त्राटक दो प्रकार के होते हैं : बाह्य त्राटक और आभ्यन्तर त्राटक। दोनों की साधना नीचे लिखी जाती है :

1. बाह्य त्राटक- किसी बिन्दु पर दृष्टि को एकाग्रचित्त करना बाह्यत्राटक कहलाता है। सफेद चिकने चमकदार कागज पर ठीक बीचों-बीच काली स्याही से गोला अंकित कीजिए। इस गोले के बीचों-बीच सफेद बिन्दु रहने दिया जाए अथवा चन्द्रमा पर, घी के दीपक की शिखा पर, शिवलिंग के अग्रभाग पर, इष्ट देव के चरण नख या किसी अंग विशेष के बिन्दु पर भी यह साधन किया जा सकता है।

मेरुदंड को सीधा रखकर स्वस्थचित्त होकर, पद्मासन, अर्धपद्मासन या सुखासन में बैठिए। उपर्युक्त किसी एक बिंदु पर दृष्टि जमाइए। पलक मारते रहने में कुछ हर्ज नहीं, पर दृष्टि बिन्दु पर से न हटे। आँखें

न तो बहुत अधिक खोली जायें, न पलक सिकोड़े जायें, दृष्टिपात बहुत हल्का हो और न बहुत जोर लगाया जाए। चन्द्रमा पर, घी के दीपक की शिखा पर, शालिग्राम या शिवलिंग के अग्रभाग पर, इष्ट देव के चरण नख या किसी अंग विशेष के बिन्दु पर भी यह साधन किया जा सकता है।

2. आभ्यन्तरिक त्राटक- इसके लिए नेत्र बन्द करके साधना पर बैठना चाहिए। और भ्रूमध्य भाग में त्रिकुटी ब्रह्मरंध्र या सहस्त्रदल कमल का स्थान है। इस स्थान पर शान्त चित्त से ध्यान जमाने पर एक छोटा-सा प्रकाश बिन्दु दृष्टिगोचर होता है। कुछ दिन के बाद एक के स्थान पर अनेक तथा लाल, पीले, काले, विभिन्न वर्गों के विभिन्न आकृतियों के बिन्दु मस्तक के भीतर चारों ओर उड़ते हुए दिखाई देते हैं। दीर्घकालीन सतत अभ्यास से वे बिखरे हुए बिंदु, रंग सब एक हो जाते हैं। उस एक हुए बिंदु में परमात्मा का ध्यान करें।

निष्कर्ष-

नाद के प्रणव में संलग्न होने पर साधक ज्योतिर्मय हो जाता है और उस स्थिति में उसका मन लय हो जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से साधक मन को सब ओर से खींच कर परम तत्त्व में लीन कर लेता है। इसे ही लययोग की परम उपलब्धि बतलाया जाता है। लययोग के द्वारा आध्यात्मिक चेतना का विकास होता है। तथा योगी समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। यह साधना किसी सद्गुरु के सम्मुख बैठकर उनके संरक्षण में ही की जानी चाहिए।

मंत्रयोग

'मंत्र' का अर्थ

मनः तारयति इति मन्त्रः अर्थात् मन को तारने वाली ध्वनि ही मंत्र है। वेदों में शब्दों के संयोजन से ऐसी ध्वनि उत्पन्न की गई है; जिससे मानवमात्र का मानसिक कल्याण हो। अन्य भी प्रमाण मिलता है : **'मननात् तारयेद् यस्तु स मन्त्रःपरकीर्तितः'** अर्थात् यदि हम जिस

इष्टदेव का मन से स्मरण कर श्रद्धापूर्वक ध्यान कर मंत्रजप करते हैं और वह दर्शन देकर हमें इस भवसागर से तार दे; तो वही मंत्रयोग है।

वह शक्ति जो मन को बन्धनों से मुक्त कर दे, वही मंत्रयोग है। मंत्र का सामान्य अर्थ ध्वनि कम्पन से लिया जाता है। मन्त्रविज्ञान ध्वनि की विद्युत रूपान्तर की साधना है। **'मन्त्रजपान्मनोलयो मन्त्रयोगः'** अर्थात् अभीष्ट मंत्र का जप करते-करते मन जब अपने आराध्य अपने ईष्टदेव के ध्यान में तन्मयता को प्राप्त कर लय भाव को प्राप्त कर लेता है, तब उसी आस्था को मंत्रयोग कहा जाता है।

मंत्रयोग के प्रकार

प्राचीन भारतीय शास्त्रों में **चौदह प्रकार** के मंत्रजप का वर्णन प्राप्त होता है; जो निम्न प्रकार से हैं :

1. **नित्यजप–** जो जप नियमित रूप से नित्यप्रति किया जाता हो।
2. **नैमित्तिक जप–** जो किसी के निमित्त किया जाता हो।
3. **काम्य जप–** वह जप, जो किसी कामना की सिद्धि के लिए किया जाता है।
4. **निषिद्ध जप–** किसी को हानि पहुँचाने की दृष्टि से किया गया अथवा किसी के उपकार के लिए किया जाने वाला, या अशुद्ध उच्चारणपूर्वक किया गया जप निषिद्ध जप कहलाता है। एक लय में नहीं, अधिक तीव्रता, अधिक मन्दता से किया गया जप भी निषिद्ध है। और ऐसे जप की निष्फल होते हैं।
5. **प्रायश्चित जप–** जाने-अनजाने में किसी से कोई दोष या अपराध हो जाने पर प्रायश्चित कर्म किया जाता है। उन दोषों से चित्र में जो संस्कार पड़ गये होते है, उनसे मुक्त होने हेतु जो मंत्रजप आदि किये जाते है; वे प्रायश्चित जप कहलाते हैं।
6. **अचल जप–** यह आसनबद्ध होकर स्थिरतापूर्वक किया जाता है।

7. **चल जप–** इस प्रकार के मंत्रजप में स्थिरता नहीं होती। उठतें, बैठते, खाते, सोते सभी समय यह जप किया जा सकता है। इस प्रकार के जप में जीभ व होंठ हिलते हैं और यदि हाथ में माला है, वह भी हिलती हैं। इस प्रकार चल अवस्था में होते रहने से ही यह चलजप है।

8. **वाचिक जप–** मंत्रोचारपूर्वक जोर से बोलकर जो जप किये जाते हैं, वह वाचिक जप कहलाता है। वाचिक जप से साधक की वाणी में मंत्रोच्चारण से अमोघ शक्ति आ जाती है।

9. **मानस जप–** केवल मानसिक रूप से बिना कोई अंग-प्रत्यंग के हिले डूले सूक्ष्मातापूर्वक जो भी जप किया जाता है, उसे मानसिक जप कहते हैं।

10. **अखण्ड जप–** ऐसा जप जिसमें देश-काल का, पवित्र-अपवित्र का भी विचार नहीं होता और मंत्र जप बिना खण्डित हुए लगातार चलते रहे; उसको अखण्ड जप कहा जाता है।

11. **अजपाजप–** अजपाजप श्वास के साथ चलते रहने वाला जप है। बिना प्रयास किए श्वास-प्रश्वास जिस प्रकार से शरीर में चलता है, उसी प्रकार से यह जप भी बिना विराम किए मन में चलता रहता है; इसे अजपाजप कहते हैं।

12. **उपांशु जप–** उपांशुजप में दोनों होठ हिलते रहेंगे, परंतु शब्द बाहर सुनाई नहीं देते।

13. **भ्रमर जप–** इस प्रकार का मंत्रजप भौरे के गुंजन के समान गुंजन करते हुए किया जाता है। अर्थात् अपने इष्ट के मंत्र का जाप गुनगुनाते हुए करना भ्रमरजप है।

14. **प्रदक्षिणा जप–** किसी भी देवस्थान, मन्दिर या देवता की प्रदक्षिणा करते समय मंत्र जप किया जाता है। इस प्रकार का जप प्रदक्षिणाजप कहा जाता है। इन चौदह प्रकार के मंत्र जप में तीन प्रकार के जप श्रेष्ठ माने जाते है।

मनुस्मृति में कहा गया है वाचिक जप, उपांशु जप तथा मानसिक जप।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टोदशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणाः साहस्त्रो मानसः स्मृतः॥[1]

अर्थात् विधियज्ञों में वाचिक जप जो कि बोलकर किया जाने वाला यज्ञ है। अर्थात् जप को यज्ञ की संज्ञा दी गई है, वाचिक जप दस गुना श्रेष्ठ हैं। उपांशुजप इससे सौ गुना श्रेष्ठ बताया गया है। और मानसिक जप हजार गुना श्रेष्ठ बताया गया है।

मंत्र योग का उद्देश्य–

मंत्र योग में साधक मन्त्रों का जप करते हुए साधना करते हैं; जिसमें आध्यात्मिक जागरण के मूलभूत सिद्धान्त हैं। इन मन्त्रों के स्वरों में एक विशेष कम्पन होता है; जो आत्म-चेतना की भूमि को स्पर्श कर उसे जाग्रत कर देता है। **मन्त्रों के बार-बार दुहराने की क्रिया को जप कहते हैं।** इन मन्त्रों के उच्चारण में एक विशेष प्रकार का आरोह-अवरोह रहता है; जो साधक की प्रसुप्त चेतना को जाग्रत करने में सहायक सिद्ध होता है। साधना में मन्त्रों का जप पहले वाणी से बोलकर अर्थात् वाचिक फिर उपांशु फिर धीरे-धीरे वह जप मानसिक रूप से होने लगता है और अन्ततः अजपाजप में परिवर्तित हो जाता है; जो इस साधना की सर्वोच्च भूमि है।

जप साधकों के लिए आत्मज्ञान की उपलब्धि के निमित्त आवश्यक बतलाया गया है। मन्त्रयोग के द्वारा शरीर के अन्दर 'नाद' भी प्रकट होते हैं; जिन्हें साधक **अनहद नाद** के नाम से जानते हैं। इस साधन से ब्रह्माण्डी शब्दों के साथ तादात्म्य स्थापित कर साधक सृष्टि के रहस्यों को जानने में सक्षम हो जाता है। **मंत्रयोग में** अजपाजप **जब भीतर में स्वतः होने लगता है, तो वहाँ समाधि की स्थिति प्रकट हो जाती है।**

---

1. मनुस्मृति 2/85

मंत्रयोग की उपयोगिता एवं महत्त्व–

मंत्र जप के द्वारा मन, बुद्धि, अहंकार, चित- इन सभी का भटकाव रुकता है। मानसिक एकाग्रता की स्थिति प्राप्त होती है। मंत्रयोग अभ्यास से समस्त मानसिक क्रियाएँ सन्तुलित हो जाती हैं। जप के समय साधक श्रेष्ठ विचारों का चिन्तन करता है; जिसको निरन्तर दुहराने से व्यक्ति अतार्किक विचारों से मुक्त हो, श्रेष्ठ विचारों या सकारात्मक विचारों वाला हो जाता है। मंत्रजप के स्पन्दन, जो प्रत्येक शब्द के जपने से उत्पन्न होते हैं तथा एक ध्वनि का रूप लेते हैं। जैसे–जैसे मंत्र की ध्वनि से उत्पन्न स्पन्दन बंध जाते हैं, हमारे मन के साथ–साथ हमारी चेतना भी इससे प्रभावित होती है। हमारी चेतना के प्रभावित होने से हमारी भावनाओं व चिन्तन प्रक्रियाओं पर धनात्मक प्रभाव पड़ता है।

मंत्रजप से इष्टसिद्धि-

शास्त्रों में कहा गया हैं कि मंत्रजप से इष्टसिद्धि प्राप्त होती है। **'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः'** अर्थात मंत्रजप से ही सिद्धि मिलती है। इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता है। जितना–जितना जप होता जाता है, उसी अनुसार उतने ही दोष मिटते जातें हैं। और उसी अनुसार हमारा अन्तःकरण शुद्ध होता जाता है। अन्तःकरण ज्यों–ज्यों शुद्ध होता जाता है। जपसाधना भी त्यों–त्यों बढ़ने लगती है। और उस साधना के परिणामस्वरूप मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर लेता है।

अतः जिन साधकों को अन्य साधन कठिन प्रतीत होते हों, उन्हें चाहिए कि ये मंत्रयोग का आश्रय लें। इस मंत्रयोग के द्वारा शीघ्र ही अभीष्टसिद्धि हो जायेगी। महर्षि पतंजलि ने परम्परागत ढंग से मंत्रजप की विधि व लाभ बतलाये हैं : **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**[1] अर्थात् मंत्र का जप अर्थ सहित चिन्तनपूर्वक करना चाहिए। जिस देवता का जप कर रहें हों, उसका ध्यान और चिन्तन करते रहने से इष्टदेव के दर्शन होते है। तथा उनके साथ वार्तालाप या वरदान प्राप्त करना भी सम्भव हो जाता है।

1. योगसूत्र 1/18

संन्यासयोग

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि हे अर्जुन! कुछ लोग अग्नि को न छूनेवाले तथा चिन्तन का भी त्याग करके अपने को योगी-संन्यासी कहनेवालों का सम्प्रदाय बन रहा था। इसका खण्डन करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग; दोनों में से किसी भी मार्ग के अनुसार कर्म को त्यागने का विधान नहीं है, कर्म तो करना ही होगा। कर्म करते-करते साधना इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि सर्वसंकल्पों का अभाव हो जाता है, वह पूर्ण संन्यास है। बीच रास्ते में संन्यास नाम की कोई वस्तु नहीं है। केवल क्रियाओं को त्याग देने से तथा अग्नि न छूने से न तो कोई संन्यासी और न ही योगी होता है।

गीता के अंतिम अध्याय का नाम है : मोक्षसंन्यास योग है। गीता में भी अन्य उपनिषदों की तरह गुरु-शिष्य परंपरा का निर्वाह किया गया है। यहाँ शिष्य अर्जुन है जो गुरु अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण का मित्र भी है, सखा भी और भक्त भी। उस की अपनी शंकाएँ या समस्याएं इतनी अधिक नहीं हैं; जितनी समाज की हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उन का निराकरण करते हैं।

अट्ठारहवें अध्याय से पूर्व पाँचवें अध्याय में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने संन्यास और मोक्ष की बात कही थी। वहाँ अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा आप कर्म के त्याग की बात करते हैं और फिर आप कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में जिस एक का भी आपने मोक्षसाधनरूप में निश्चय किया हो, वह मुझ से स्वयं निर्णय कर के कहो।

भगवान् ने कहा–

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।[1]

हे अर्जुन! संन्यास और कर्म योग-दोनों ही यद्यपि मोक्ष के साधन हैं तथापि दोनों में संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। लेकिन अर्जुन

1. गीता 5/2

की शंका का पूर्णतः समाधान नहीं हुआ। इसलिए अंतिम अध्याय में अर्जुन फिर कहता है कि हे कृष्ण! मैं आपसे संन्यास और त्याग को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ :-

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।[1]

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशी दैत्य के संहारक श्रीकृष्ण! मैं आपसे संन्यास और त्याग-दोनों के तत्त्व को अलग-अलग जानना चाहता हूँ; अलग-अलग अर्थात् विश्लेषण करके। अब सबसे अधिक विशेष बात यह है कि भगवान् भी अपनी बात कहने से पूर्व संन्यास और त्याग के बारे में विभिन्न विद्वानों का मत प्रकट करते हैं।

भगवान् ने कहा

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।[2]
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे।।[3]

कुछ विद्वान् कामना के लिए किये जाने वाले कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं और कुछ पंडित कर्मों के फल के त्याग को त्याग संन्यास कहते हैं। कुछ विद्वान् ऐसे हैं; जिन्हें सभी कर्मों में दोष की आशंका रहती है। इस कारण से वे सभी कर्मों के त्याग की बात करते हैं। इनके अनुसार कोई कर्म दोषरहित नहीं हो सकता। अच्छे कर्म करते समय भी कुछ न कुछ बुरा काम हो ही जाता है। जैसे हवन करते समय लकड़ी के साथ छोटे-छोटे जीव-जंतु मर जाते हैं। खेत में हल चलाते समय कोई न कोई जीव अवश्य मर जाते हैं। युद्ध के समय अनेक अनजानी मृत्यु हो जाती हैं। अतः सभी कर्मों का त्याग कर देना चाहिए। कुछ विद्वान् ऐसे हैं; जो यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों को न छोड़ने की बात कहते हैं। बाह्य रूप से वे स्वयं को अनजाने पाप कर्म से बचाने

1. गीता 18/1
2. वहीं 18/2
3. वहीं 18/3

की बात कह रहे थे। लेकिन वास्तविक रूप में ये कर्म न करने में प्रवृत्त हो गए थे अर्थात् कर्म से भागना। अर्जुन भी अकमर्ण्यता को प्राप्त हो रहा था।

अत: अब भगवान कृष्ण ने 18वें अध्याय के चौथे श्लोक से 12 वें श्लोक तक अर्जुन को अपना मत बताया। वे कहते हैं : 'संन्यास का वास्तविक अर्थ है, कर्तापन का त्याग, कर्मों के फल का त्याग करना है; अर्थात् पूर्ण त्याग ही संन्यास है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मों का त्याग करना सरल है। परन्तु कर्म करके उसके फल का त्याग करना कठिन है। लेकिन सृष्टि को गतिशील रखने के लिए कर्म करना आवश्यक है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तमः।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।[1]

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग- इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग (**सात्विक, राजस** और **तामस**) तीन प्रकार का कहा गया है। संन्यास की इच्छा रखने वाले को पहले त्याग का आश्रय लेना होगा। उसे पहले अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करना चाहिये। अदृश्य-अप्रत्यक्ष अपूर्ण चाहत-इच्छाएँ, मोह, जुड़ाव मनुष्य को कर्म और कर्मफल की ओर प्रवृत्त करते हैं। इनका मन से गहरा सम्बन्ध है और यही मनुष्य को कर्म करने के लिये मजबूर करते हैं। ऋषि-मुनि उस कर्म के त्याग की बात करते हैं; जो कि आकांक्षों-अभिलाषाओं से जुड़ा है। विचारशील, पण्डित, विद्वान, ज्ञानी सभी कर्मों के छोड़ने की बात कहते हैं।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।[2]

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अत्यावश्यक जरूरी कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप, ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषों मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं। नित्य,

1. गीता 18/4
2. वहीं 18/5

नैमित्तिक, जीविका सम्बन्धी, शरीर सम्बन्धी जितने भी कर्तव्य कर्म बताये गए हैं; वे सभी अनिवार्य हैं। अगर कोई कर्म अपनी भलाई और दूसरे का बुरा करने के लिए किया जाये, तो वो भी अपवित्र करने वाला, लोक-परलोक में भी महान् दु:ख देने वाला बन जाता है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।[1]

हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों को आसक्ति और फलों की इच्छा का त्याग करके करना चाहिए; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्मो साथ-साथ मनुष्य को पठन-पाठन, खेती-बाड़ी, जीविका हेतु तथा नित्य कर्म खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि शारीरिक कर्म और परिस्थितिजन्य आवश्यक कर्तव्य कर्मों को आसक्ति (फलेच्छा) का त्याग करके जरूर करना चाहिये। अपनी कामना, ममता, और आसक्ति का त्याग करके कर्मों को केवल प्राणिमात्र के भले के लिए करने से कर्मों का प्रवाह संसार के लिए और योग का प्रवाह स्वयं के लिये हो जाता है और अपने हेतु किया गया कर्म बन्धनकारक हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने चार प्रचलित मतों का उल्लेख किया है : पहले मत में कर्मों का त्याग, दूसरे में संपूर्ण कर्मफलों का त्याग, तीसरे में दोष युक्त होने के कारण सभी कर्मों का त्याग, चौथे में यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को कभी त्याग नही करना चाहिए; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। भगवन् अब त्याग का विश्लेषण करते है :

तामसिक त्याग

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।[2]

नियत कर्म का त्याग करना उचित नहीं है। उसका मोहपूर्वक त्याग तामस कहा गया है। तामस त्याग सर्वथा निकृष्ट है। नियत कर्मों

1. गीता 18/6
2. वहीं 18/7

को मूढ़तापूर्वक, बिना विचार किये, विवेकहीनता के साथ छोड़ना तामस त्याग है। मोह में उलझ जाना तामस पुरुष का स्वभाव है। सामान्य स्वरूप से कर्मों को छोड़ देना त्याग नहीं है। बाहरी रूप से त्याग को असली त्याग माना जाये, तो मरने वाले का कल्याण हो जाना चाहिये; क्योंकि मरते ही उसके सारे दायित्व, बन्धन, धन, जमीन-जायदाद, संबन्धी, नातेदार, रिश्तेदार आदि सब का त्याग हो जाता है।

राजसिक त्याग

दु:खमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।[1]

जो कर्म (स्वधर्म के अनुसार) नियत अर्थात् निश्चित हो गये हैं, अवश्यकर्तव्य हैं उन शास्त्रविहित कर्मों का त्याग करना (किसी को भी), उचित नहीं है। उनका मोह के वशीभूत किया गया त्याग तामस त्याग कहा जाता है।

राजस स्वभाव का व्यक्ति यज्ञ, दान, शास्त्रीय और नियत कर्मों का त्याग यह सोचकर करता है कि इनमें सिवाय कष्ट, खर्च, दु:ख और समय की बर्बादी के कुछ नहीं है; तो इसका कारण उसका परलोक, शास्त्र, शास्त्रविहित कर्म और इनके परिणामों पर विश्वास का न होना है।

कर्तव्यजनित कर्म त्याज्य नहीं हैं। इनके त्याग से आलस्य, प्रमाद और अतिनिद्रा उत्पन्न होते हैं; जो कि पतन का कारण बनते है। शुभ कर्मों के त्याग से शांति नहीं मिलती, अपितु मनुष्य दण्ड का भागी हो जाता है।

सात्त्विक त्याग

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।[2]

---

1. गीता 18/8
2. वहीं 18/9

हे अर्जुन! आसक्ति और फल का त्याग करके किया गया शास्त्र विहित कर्म, कर्तव्य मानकर करना ही, सात्त्विक त्याग है। जो कर्म विशुद्ध कर्तव्य मान कर किया जाता है; जिसमें फलासक्ति नहीं है, कोई स्वार्थ नहीं है, क्रियाजन्य सुखभोग भी नहीं है, तो उससे सम्बन्ध विच्छेद तो स्वतः हो गया। इससे कोई बन्धन नहीं होगा। शास्त्र कर्मों में देश, काल, वर्ण, आश्रम और परिस्थिति के अनुसार; जो भी कर्म किये गए, वे सभी नियत कर्म हैं। फल के त्याग का अर्थ है- कर्म के फल की इच्छा न होना।

कर्म और फल में आसक्ति तथा कामना का त्याग करने से कर्तव्यमात्र समझकर किया गया काम करने से वह कार्य सात्त्विक हो जाता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥[1]

जो मनुष्य अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता, वह **शुद्ध सत्त्व गुण** से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है तथा अपने स्वरूप में स्थित है। जो भी शास्त्रविहित शुभ कर्म फलेच्छा से किया जायेगा, वह पुनर्जन्मकारक होगा। शास्त्र निषिद्ध, पाप कर्म नीच योनियों या नरक में ले जाएगा। ये कर्म अकुशल कर्म कहलाते हैं :

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥[2]

शरीरधारी किसी भी मनुष्य द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग किया जाना सम्भव नहीं है। इसलिए जो कर्मफल का त्यागी है, वही त्यागी है। यह कहा जाता है मनुष्यों के द्वारा कर्मों का पूर्ण रूप से त्याग करना संभव नहीं है; क्योंकि शरीर प्रकृति का अंग है। मनुष्य यज्ञ, तप, दान,

---

1. गीता 18/10
2. वहीं 18/11

तीर्थ, जैसे कर्मों को भले ही छोड़ दे। परन्तु खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि नहीं छोड़ सकता। ये बाहरी सम्बन्ध नहीं छूट सकते। सम्बन्ध अन्दर से मन से छोड़ना है। कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता योगनिष्ठा भी प्राप्त नहीं होती है। जब तक मनुष्य जीवित है, उसके साँस चल रही है, हृदय धड़क रहा है, वह कर्म कर रहा है। पुरुष चेतन, निर्विकार, एकरस तथा प्रकृति विकारी, परिवर्तनशील है। जब तक पुरुष प्रकृति के साथ तादात्म्य मानता रहेगा, उसका कर्मों से सम्बन्ध बना रहेगा। पुरुष ने प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ा है ना कि प्रकृति ने पुरुष से। स्वयं को शरीर मानने से अहंता और शरीर को अपना मानने से ममता होती है। अहंता-ममता की घनिष्ठता देहधारी को कर्मों से मुक्त नहीं होने देती। इससे आसक्ति, कर्मासक्ति, फलासक्ति होती है; मगर विवेक उसे निर्विकार बनाता है, अभिमान नहीं आने देता और विवेकी निराभिमानी अंत:करण से कर्म व कर्मफल का त्याग कर देता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥[1]

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों के कर्मों का तो अनिष्ट- बुरा, इष्ट- अच्छा और मिश्रित- मिला हुआ; ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् अवश्य मिलते हैं। किन्तु कर्मफल का त्याग करने वाले मनुष्यों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता। ज्यादातर मनुष्यों को मिश्रित कर्मफल की प्राप्ति ही होती है।

जो त्यागी- संन्यासी है, उसे इहलोक या परलोक में कहीं भी कर्मफल का भुगतान नहीं करना पड़ता; क्योंकि वह अपने लिए कुछ भी नहीं करता। कर्मयोगी का भाव यह है कि अपना कुछ नहीं है, अपने लिए कुछ नहीं चाहिये और अपने लिए कुछ नहीं करना।

सभी कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य-सिद्धांत के 5 कारण हैं :

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥[2]

1. गीता 18.12
2. वहीं 18.13

हे महाबाहो! सांख्य-शास्त्र में कर्मों का अंत करने वाले, सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिये ये पाँच हेतु (कारण) बताये गए हैं; उनको तू मुझ से भली भाँति जान जो कर्म शास्त्रविहित है या शास्त्रनिषिद्ध है शारीरिक हो या मानसिक अथवा वाचिक, स्थूल हो या सूक्ष्म;, इन सबके 5 हेतु बताये गए हैं। इन कर्मों में कर्तव्य कर्तव्याभिमान रहने पर कर्म सिद्धि और कर्म संग्रह-दोनों होते हैं। जब इन कर्मों में कर्तव्य नहीं रहता, तब कर्म सिद्धि तो होती है; मगर कर्म संग्रह नहीं होता। सांख्यसिद्धान्त में विवेक (विचार) की प्रधानता है। सांख्य योग में अहंता (मैं-पन) का त्याग मुख्य है; जिससे ममता का त्याग स्वतः हो जाता है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥[1]

सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिये सांख्य शास्त्र में पाँच हेतु (कारण) बताये गए हैं; जो इस प्रकार हैं :

1. अधिष्ठान (शरीर), 2 कर्त्ता (जीवात्मा), 3. करण (साधन) इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ, और कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार), 4. चेष्टा (क्रियाएँ) विविध चेष्टाएँ तथा 5. दैव (मन के संस्कार)।

इस विषय में कर्ता (यह मन), पृथक्-पृथक् करण जिनके द्वारा किया जाता है। यदि शुभ पार लगता है, तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, अनवरत चिन्तन की प्रवृत्तियाँ इत्यादि करण होंगी। यदि अशुभ पार लगता है, तो काम, क्रोध, राग, द्वेष, लिप्सा इत्यादि करण होंगे। इनके द्वारा प्रेरित होंगे। नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ (अनन्त इच्छाएँ), आधार अर्थात् साधन जिस इच्छा के साथ साधन मिला, वही इच्छा पूरी होने लगती है और पाचवाँ इसकी पुष्टि करने हेतु देव अथवा मन को संस्कारी करना।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥[2]

1. गीता 18/14
2. वहीं 18/15

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो कुछ कर्म आरम्भ करता है। परन्तु ऐसा होने पर भी शरीर से, वाणी से और मन से मनुष्य जो जो कर्म प्रारम्भ करता है, चाहे वह शास्त्र के अनुसार अथवा विपरीत, न्याययुक्त है अथवा अन्याय से युक्त हो; उसके ये पाँचों ही कारण हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।[1]

वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी, शास्त्र और आचार्य के उपदेश द्वारा तथा तर्क द्वारा बुद्धि होने के कारण जो यह समझता है कि मैं अकेला ही कर्ता हूँ, उसको समझना चाहिए कि वह दुर्मति कुछ नहीं जानता या केवल शुद्ध आत्मा को (उन कर्मों का) कर्ता समझता है; वह वास्तव में कुछ भी नही समझता। अर्थात् वह यथार्थ नही जानता है।

इस प्रश्न पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दूसरी बार बल दिया। अध्याय 5 में उन्होंने कहा कि वह प्रभु न करता है, न कराता है, न क्रिया के संयोग को जोड़ता है। तो लोग कहते क्यों हैं? मोह से लोगों की बुद्धि आवृत्त है, इसलिये कुछ भी कह सकते हैं। यहाँ भी कहते हैं : कर्म होने में पाँच कारण हैं। उसके बावजूद भी जो कैवल्य स्वरूप परमात्मा को कर्त्ता देखता है, वह मूढबुद्धि (दुर्बुद्धि) यथार्थ नहीं देखता अर्थात् भगवान् नहीं करते; जबकि अर्जुन के लिये वे ताल ठोंककर खड़े हो जाते हैं, कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ, तू निमित्त बनकर खड़ा भर रह। अन्ततः भगवान् कहना क्या चाहते हैं? वस्तुतः भगवान् और प्रकृति के बीच एक आकर्षण रेखा है। जब तक साधक प्रकृति की सीमा में है, भगवान् नहीं करते। बहुत समीप रहकर भी द्रष्टारूप में ही रहते हैं। अनन्य भाव से इष्ट को पकड़ने पर वे हृदयदेश से संचालक बन जाते हैं। साधक प्रकृति की आकर्षण सीमा से निकलकर उनके क्षेत्र में आ जाता है। ऐसे अनुरागी के लिये वे ताल ठोककर सदैव खड़े रहते हैं। केवल उसी के लिये भगवान् करते हैं।

---

1. गीता 18/16

लोकसंहार :-

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।[1]

जिस पुरुष के अंत:करण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नही है तथा जिसकी बुद्धि अलिप्त है (आसक्ति रहित है)। वह पुरुष भीष्मादि को ही नहीं, इन सब लोगों को मारकर भी मारने वाला नहीं है और नही बँधता है। अत: इस प्रकार के किये गये कर्म से वह बन्धनग्रस्त नहीं होता। यह लोकसम्बन्धी संस्कारों का विलय ही लोक-संहार है।

नियत कर्म की प्रेरणा-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः।।18।।[2]

कर्मचोदना (कर्म की प्रेरणा) तीन प्रकार की है : ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता। हे अर्जुन! परिज्ञाता अर्थात् पूर्णज्ञाता महापुरुषों से, 'ज्ञानम्'-उसको जानने की विधि से और ज्ञेयम्- जानने योग्य वस्तु (श्रीकृष्ण ने पीछे कहा कि मैं ही ज्ञेय, जानने योग्य पदार्थ हूँ) से कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। पहले तो पूर्णज्ञाता कोई महापुरुष हो, उनके द्वारा उस ज्ञान को जानने की विधि प्राप्त हो, लक्ष्य-ज्ञेय पर दृष्टि हो; तभी कर्म की प्रेरणा मिलती है और कर्ता (मन की लगन), करण (विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि) तथा कर्म की जानकारी से कर्म का संग्रह होता है, कर्म इकट्ठा होने लगता है। पीछे कहा गया कि प्राप्ति के पश्चात् उस पुरुष का कर्म किये जाने से कोई प्रयोजन नहीं होता और न छोड़ने से हानि ही होती है। फिर भी लोकसंग्रह अर्थात् पीछेवालों के हृदय में कल्याणकारी साधनों के संग्रह के लिये वह कर्म में बरतता है। कर्मसंग्रह तीन प्रकार का है : करण, कर्म (क्रिया) और कर्ता।

18वें श्लोक में कर्मचोदना पारिभाषिक शब्द है। इन्द्रियों द्वारा

---

1. गीता 18/17
2. वहीं 18/18

किसी कर्म को करने से पूर्व मन में उसका निश्चय करना पड़ता है। अतः इस मानसिक क्रिया के रूप में प्राथमिक प्रेरणा को कर्मचोदना कहते हैं। यह स्वभावतः तीन प्रकार की होती है : ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता। उदाहरणस्वरूप एक कुम्हार घड़ा बनाने का निर्णय करता है। कुम्हार ज्ञाता है, घट ज्ञेय है और जिस रीति से बनाना है; वह ज्ञान है तथा कुम्हार के द्वारा घट बनाने का निश्चय मानसिक क्रिया है; जिसे कर्म की प्रेरणा या चोदना कहते हैं। घट बनाने का निश्चय हो जाने पर कुम्हार (कर्ता), चाक, मिट्टी आदि (करण) एकत्रित करता है और घट का निर्माण (कर्म) करता है। कर्मसंग्रह से बाहरी क्रियाओं का बोध होता है : कर्ता, करण और कर्म- ये बाहरी क्रियाएँ हैं।

ज्ञान, कर्म और कर्ता के भेद हैं-

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥[1]

गुणसंख्यानशास्त्र अर्थात् कापिल सांख्यशास्त्र के अनुसार ज्ञान, कर्म (क्रिया) और कर्ता, सत्त्व, रज और तम- इन तीन गुणों के भेदों से तीन प्रकार के बताये गये हैं। उनके प्रकारों को यथावत् तुझे बतलाता हूँ; सुन।

ज्ञान का भेद : सात्त्विक, राजसिक, तामसिक।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥[2]

अर्जुन! जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभागरहित एकरस देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान। ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूति है; जिसके साथ ही गुणों का अन्त होना है। यह ज्ञान की परिपक्व अवस्था है।

जो ज्ञान सम्पूर्ण भूतों में भिन्न प्रकार के अनेक भावों को अलग-अलग करके जानता है कि यह अच्छा है, ये बुरा है, उस ज्ञान

1. गीता 18/19
2. वहीं 18/20

को तू राजस जान। ऐसी स्थिति है, तो राजसी स्तर पर तुम्हारा ज्ञान है।

जो ज्ञान एकमात्र शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश आसक्त है, अपने परिवार को ही संसार समझना ही तामसिक ज्ञान है, तत्त्व के अर्थस्वरूप परमात्मा की जानकारी से अलग करनेवाला तुच्छ ज्ञान ही तामस कहा जाता है।

वेद, बृहदारण्यक, कठोपनिषद् आदि सभी उपनिषदों के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में नाना तत्त्व न होकर एक ही तत्त्व है, जो इस बात की अनुभूति कर लेता है, मुक्त हो जाता है और जो इस एक तत्त्व में नाना तत्त्वों की कल्पना करता है वह जन्म-मरण के चक्कर में फँसा रहता है।

कर्ता जैसा होता है, वैसे ही कर्म होते हैं। फल की आशा त्यागकर, सिद्धि और असिद्धि- दोनों में दृढ़ रहकर उत्साहपूर्वक कर्म करना सच्चे कर्मयोगी की विशेषता है।

मोक्ष-मुक्ति के 4 प्रकार :

1. **सालोक्य**- इससे भगवद्धाम की प्राप्ति होती है। सुख-दुःख से अतीत, अनंत काल के लिए अनंत असीम आनंद है।
2. **सामीप्यः**- इसमें भक्त भगवान् के समीप, उनके ही लोक में रहता है।
3. **सारूप्यः**- इसमें भक्त का रूप भगवान् के समान हो जाता है और वह भगवान् के तीन चिह्न-श्रीवत्स, भृगु-लता और कौस्तुभ मणि; को छोड़कर शेष चिह्न शंख, चक्र, गदा और पद्म आदि से युक्त हो जाता है।
4. **सायुज्यः**- इसका अर्थ है-एकत्व। इसमें भक्त भगवान् से अभिन्न हो जाता है। यह ज्ञानियों को तथा भगवान् द्वारा मारे जाने वाले असुरों को प्राप्त होती है।

सार्ष्टि भी मोक्ष का ही एक अन्य रूप है; जिसमें भक्त को परम धाम में ईश्वर के समान ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म,

यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य- ये सभी भक्त को प्राप्त हो जाते हैं। केवल संसार की उत्पत्ति व संहार करना भगवान् के आधीन रहता है; जिसे भक्त नहीं कर सकता।

भगवान ने सारी प्रक्रिया का विश्लेषण करके अर्जुन को कर्म करने के लिए प्रेरित किया। इसके बाद भगवान् ने कर्म, ज्ञान, कर्ता, बुद्धि, धीरता, सुख आदि के तीन-तीन भेद बताये और व्याख्या की। फिर भगवान् स्वधर्म की बात करते हैं और फिर भक्ति और कर्म के साथ सांख्ययोग की चर्चा करते हैं। अंत में मोक्ष की बात करते हुए भगवन श्रीकृष्ण कहते हैं :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।[1]

अर्जुन! मुझ में ही अपना अटूट चित्त लगा, मेरा भजन कर, मेरा पूजन कर, तू मेरा प्रिय है। मैं तुझे विश्वास दिलाता हुँ कि तू मुझे प्राप्त कर लेगा अर्थात् तू मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[2]

तू उन सब उलझनों, शंकाओं आदि छोड़कर मेरी शरण में आ जा। उस स्थिति में यदि तुझे कोई पाप आदि का भय लगता है, तो उसका उत्तरदायित्व मैं लेता हूँ।

उपसंहार [Conclusion]

इस प्रकार से अध्ययन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि योगविद्या का वैदिक परम्परा से गंभीर संबंध है। योग एक स्वतंत्र विद्या शाखा के रूप में वैदिक दर्शन से ही परिणत हुआ है। वैदिक दर्शन की विकासशील परम्परा का चिन्तन दो भागों में विकसित हुआ। एक परम्परा के केन्द्र में ज्ञान रहा, तो दूसरी के केन्द्र में कर्म। ज्ञानवादी परम्परा की

1. गीता 18/65
2. वहीं 18/66

विचारधाराओं ने यह स्वीकार किया कि केवल ज्ञानप्राप्ति से ही दु:खों से निवृत्ति संभव है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं वेदान्त आदि सम्प्रदाय इस सिद्धान्त को मानकर ही शास्त्र के प्रवचन में प्रवृत्त हुए हैं। जबकि दूसरी कर्म प्रधान विचारधारा के सम्प्रदाय कर्म की प्रधानता को स्वीकार करते हुए शास्त्र का प्रवचन करते हैं। इनके अनुसार केवल ज्ञानप्राप्ति से दु:खों से मुक्ति नहीं होती अपितु कर्म या साधना करके ही दु:खों से छुटकारा पाया जा सकता है। इस परम्परा में योग एवं मीमांसा आदि प्रमुख है। योगदर्शन का यह मानना है कि ज्ञान का अपना महत्त्व है, किन्तु दु:खों से मुक्ति के लिए साधना करनी पड़ती है एवं इसके लिए अष्टांग योग का मार्ग ही सर्वोत्तम है। अष्टांग योग के बीज यद्यपि वेद में ही अंकुरित हुए हैं, किन्तु योग की परम्परा में ये पुष्पित एवं पल्लवित हुए हैं। इतना ही नहीं अष्टांग योग जो कि राजयोग भी कहा जाता है, इसके साथ ही योग की परम्परा ने सांख्ययोग, कर्मयोग, भक्तियोग हठयोग आदि अन्य यौगिक सम्प्रदायों को भी जन्म दिया। योग की इन शाखाओं को प्राचीन काल से ही बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई। भारत एवं पड़ोसी देशों में योग का तीव्र विकास हुआ। तिब्बत, श्रीलंका आदि देशों में भी योग की स्थानीय विधाएं उत्पन्न हुई। इस प्रकार योग ने मानवजाति के दु:खों को दूर करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है।

अष्टांग योग का व्यवस्थित व्याख्यान करके यौगिक परम्परा की दार्शनिक स्थापना का श्रेय महर्षि पतंजलि को ही जाता है। पतंजलि ने योग के आठों अंगों एवं इसके पूरक सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिद्धान्तों का विवेचन किया। उन्होंने योग के वैदिक स्वरूप को गहराई से प्रकाशित किया। पातंजल योगदर्शन में प्रकाशित अष्टांग योग का समर्थन हमें रामायण, महाभारत, पुराण, गीता, उपनिषद् आदि साहित्य में व्यापक रूप से देखने को मिलता है। योगसूत्रों के बाद योग की साहित्यिक एवं व्यावहारिक विकास की एक लम्बी कड़ी बनी; जो आज तक भी निरन्तर विकासशील है। भाष्य, टीका, व्याख्या आदि विद्याओं से योग का गंभीर प्रतिपादन किया गया। पातंजल योगसूत्रों में योग की साधना आठ भागों में बताई गई हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान

एवं समाधि। इन आठ योगांगों की साधना करने से मनुष्य के समस्त दु:ख समाप्त हो जाते हैं। आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक दु:खों से निवृत्त होकर साधक कैवल्य में प्रवृत्त होता है। इस साधना के क्रम में आने वाली सभी समस्याओं का समाधान योगदर्शन की परम्परा ने प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं; योगसाधना से जुड़े सभी पहलुओं की तार्किक व्याख्या भी योगदर्शन में दी गई है। योग के आधुनिक समय में प्रासंगिता और उपादेयता का विवेचन किया है।

योग के सामाजिक सम्बन्ध एवं समसामयिक समस्याओं के समाधान में योग की उपयोगिता की स्थापना वर्तमान में अनुसन्धान का महत्त्वपूर्ण विषय है। योग एक साधनापद्धति से विकसित होकर मानव के शारीरिक, मानसिक, आत्मिक एवं सामाजिक विकास का महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। चिकित्सा की अन्यान्य प्रणालियां आज योग के समर्थन में साक्ष्य देने को उत्सुक हैं। शास्त्रीय अध्ययन प्रणाली, एवं आधुनिक शिक्षापद्धति के साथ-साथ औद्योगिक क्षेत्र में भी योग का आदर किया जा रहा है। ऐसे में शैक्षिक गतिविधयों में योग का समावेश करना एवं शिक्षा की समस्याओं के समाधान में योग की भूमिका का विश्लेषण अत्यन्त प्रासंगिक है। इसी प्रक्रिया के क्रम में योग के शास्त्रीय स्वरूप एवं विकास के अध्ययन के साथ ही शैक्षणिक क्षेत्र की समस्याओं के यौगिक समाधान का अध्ययन भी इस शोध में किया गया है।

चतुर्थ अध्याय

योग के ग्रन्थों का सामान्य परिचय

पातंजलयोगसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता, गोरक्षसंहिता, भक्तिसागर।

पातंजल योगसूत्र

महर्षि पतंजलि योगसूत्र के रचनाकार हैं। यह ग्रन्थ योग का महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। इनके समय को लेकर कुछ विद्वानों का मानना है कि योगसूत्रकार पतंजलि का जीवनकाल पाँच हजार वर्ष पूर्व था। परन्तु विभिन्न विद्वानों के तत्त्व ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के अध्ययन से यह बात सामने आई है कि योगसूत्र का रचनाकाल ई. पू. चौथी सदी होगा। डॉ. राधाकृष्णन् ने योगसूत्र का लेखन 300 ई. पू. माना है। प्रो. एस. एन. दासगुप्त ने हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलासॉफी में दोनों पतंजलियों को एक माना है एवं योगसूत्र का लेखन ई. पू. दूसरी सदी में हुआ ऐसा माना है। कुछ विद्वानों का मानना है कि महर्षि पतंजलि, पाटलीपुत्र के राजा पुष्यमित्र शुंग के समकालीन (185 से 149 ई० पूर्व) थे। महर्षि पतंजलि ने राजा पुष्यमित्र का अश्वमेघ यज्ञ भी संपन्न करवाया था। द बोथलिक के मतानुसार पतंजलि का समय 200 ई० पूर्व है। बोथलिक के मत का समर्थन मैक्समूलर ने भी किया है। कीथ के अनुसार महर्षि पतंजलि का समय (140 से 150) ई० पूर्व का है।

योगसूत्रकार एवं रचनाकाल :- महर्षि पतंजलि योगसूत्र के रचनाकार हैं एवं योगदर्शन इनका एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। इसमें चार पाद है। पहले पाद को समाधि पाद कहा जाता है; जिसमें 51 सूत्र हैं। द्वितीय पाद को साधन पाद कहा जाता है; जिसमें 55 सूत्र हैं। तृतीय पाद को विभूति पाद के नाम से जाना जाता है; इसमें 55 सूत्र हैं। चतुर्थ पाद को कैवल्य पाद के नाम से जाना जाता है; इसमें 34 सूत्र हैं। इस

प्रकार; सम्पूर्ण योग सूत्र में कुल मिलकर 195 सूत्र हैं।

महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र नामक ग्रंथ में तीन प्रकार की योग साधनाओं का वर्णन किया है।

1. प्रथम साधना उत्तम कोटि के साधकों के लिए है। जो केवल ईश्वरप्रणिधान, अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से ही समाधि को प्राप्त कर सकते हैं। इसी आधार पर सूत्रों का कथन किया गया है।
2. मध्यम कोटि के साधकों के लिए महर्षि पतंजलि ने दूसरे अध्याय में क्रियायोग का वर्णन किया है। क्रिया योग का अर्थ बताते हुए कहा गया है-

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।[1]

तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान की संयुक्त साधना क्रियायोग कहलाती है। जिसका उद्देश्य समाधि भाव को प्राप्त करना व क्लेशों को क्षीण करना है।

3. सामान्य कोटि के साधकों के लिए योग है; जिनका न तो शरीर शुद्ध है, और न ही मन। ऐसे साधकों को प्रारम्भ से ही साधना करते हुए महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांगयोग का आश्रय लेना चाहिए। जिससे साधक शरीर व मन की शुद्धि करके परिणामस्वरूप एकाग्रता अवस्था को प्राप्त कर समाधिस्थ हो कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग को दो भागों में विभाजित किया है :

1. बहिरंग योग, 2. अन्तरंग योग।

1. बहिरंग योग मे **यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार** आते हैं।
2. तीन अन्तरंग साधन बताये हैं; जिसमें **धारणा, ध्यान, समाधि** आते हैं।

---

1. योगदर्शन 2/1

1. समाधिपाद-

योगदर्शन के प्रथम पाद में योग के स्वरूप, लक्षण और योग की प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए चित्तवृत्तियों के पाँच भेद के साथ उनके लक्षण बतलाये गये हैं। वहाँ सूत्रकार ने निद्रा को भी चित्त की वृत्तिविशेष के अन्तर्गत माना है। इस अध्याय में ईश्वर के स्वरूप व उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। इस पाद में समाधि के भेद व लक्षणों का वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक किया गया है। समाधि के मुख्य दो भेद माने गये हैं : एक सविकल्प, दूसरा निर्विकल्प। इसे ही सबीज और निर्बीज समाधि भी कहते हैं। संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात समाधि कहते है। दूसरा जो निर्विकल्प योग है; जिसे निर्विचार समाधि भी कहते हैं, वह जब निर्मल हो जाता है[1] उस समय उसमें विवेकज्ञान प्रकट होता है, वह विवेकज्ञान पुरुषख्याति तक हो जाता है[2]; जो कि पर-वैराग्य का हेतु है[3]। तब चित्त में कोई भी वृत्ति नहीं रहती, यह सर्ववृत्ति निरोधरूप निर्बीज समाधि है[4]। इसी को असम्प्रज्ञात योग तथा धर्ममेघ समाधि[5] भी कहते हैं। निर्बीज समाधि ही योग का अन्तिम लक्ष्य है, इसी से आत्मा की स्वरूप में प्रतिष्ठा या कैवल्य प्राप्ति होती है।

2. साधनपाद-

दूसरे पाद में अविद्यादि पंचक्लेशों को समस्त दु:खों का कारण बताया गया है; क्योंकि इनके रहते हुए मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, वे सब के सब संस्काररूप से अन्त:करण में इकट्ठे होते रहते हैं, उन संस्कारों के समुदाय का नाम ही कर्माशय है। इस कर्माशय के कारणभूत क्लेश जब तक रहते हैं, तब तक जीव को उनका फल भोगने के लिये नाना प्रकार की योनियों में बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है एवं पापकर्म का फल भोगने के लिये घोर नरक व दु:खो की यातना भी

1. योग. 1/47
2. वहीं 2/28, 3/35
3. वहीं 1/16
4. वहीं 1/51
5. वहीं 4/29

सहन करनी पड़ती है। पुण्यकर्मों का फल जो अच्छी योनियों की और सुखभोग सम्बन्धी सामग्री की प्राप्ति है; वह भी विवेक की दृष्टि से दुःख ही है[1]। अतः समस्त दुःखों का सर्वथा अत्यन्त अभाव करने के लिये क्लेशों का मूलोच्छेदन करना अत्यंत आवश्यक है। इस पाद में उनके नाश का उपाय निश्चल और निर्मल विवेकज्ञान को[2] तथा उस विवेकज्ञान की प्राप्ति का उपाय योगसम्बन्धी आठ अंगों के अनुष्ठान को[3] बताया है। महर्षि पतंजलि के अनुसार साधक को चाहिये कि बताये हुए योगसाधनों का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करे।

3. विभूतिपाद

इस तीसरे विभूतिपाद में धारणा, ध्यान और समाधि- इन तीनों का एकत्रित नाम संयम बतलाकर भिन्न-भिन्न ध्येय पदार्थों में संयम का भिन्न-भिन्न फल बतलाया है। उनको योग का महत्त्व, सिद्धि और विभूति भी कहते हैं। इनका वर्णन यहाँ ग्रन्थकार ने समस्त ऐश्वर्य में वैराग्य उत्पन्न करने के लिये ही किया है। यही कारण है कि इस पाद के सैंतीसवें, पचासवें और इक्यावनवें में एवं चौथे पाद के उनतीसवें सूत्र में उनको समाधि में विघ्नरूप बताया है। अतः साधक को भूलकर भी सिद्धियों के प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिये।

4. कैवल्यपाद

इस चौथे पाद में कैवल्यपाद प्राप्त करने योग्य चित्त के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।[4] साथ ही योगदर्शन के सिद्धान्त में जो-जो शंकाएँ हो सकती हैं, उनका समाधान किया गया है। अन्त में धर्ममेघ-समाधि का वर्णन करके[5] उसका फल-क्लेश और कर्मों का सर्वथा अभाव[6] तथा

---

1. योग. 2/15
2. वहीं 2/26
3. वहीं 2/28
4. वहीं 4/26
5. वहीं 4/29
6. वहीं 4/30

गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव बताया गया है[1] एवं पुरुष को मुक्ति प्रदान करके अपना कर्तव्य पूरा कर चुकने के कारण गुणों के कार्य का अपने कारण में विलीन हो जाना अर्थात् पुरुष से सर्वथा अलग हो जाना, गुणों की कैवल्य-स्थिति और उन गुणों से सर्वथा अलग होकर अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना, पुरुष की कैवल्य स्थिति बतलाकर[2] ग्रन्थ की समाप्ति की गयी है।

गीता में योग का स्वरूप

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दुओं के पवित्रतम ग्रन्थों में से एक है। भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र युद्ध में अर्जुन को दिया गया दिव्य उपदेश है, वह गीता वेदान्त-दर्शन का सार है। गीता का सन्देश महाभारत के भीष्मपर्व में दिया गया उपदेश है। महाभारत में भीष्म पर्व के 25 से 42 अध्याय के अन्तर्गत भगवद्गीता आती है। फिर शान्तिपर्व और अश्वमेधपर्व में भी गीता का कुछ प्रसंग उल्लिखित मिलता है। भगवद्गीता में एकेश्वरवाद की चर्चा है। इसमें अट्ठारह अध्याय हैं; जिनको तीन भागों में बाँटा गया है। प्रथम भाग में कर्मयोग 1-6 अध्याय है, द्वितीय भाग में भक्तियोग 7-12 अध्याय है तथा तृतीय भाग में ज्ञानयोग 13-18 अध्याय है। गीता के कुल 700 श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ने 574 श्लोक बोले और अर्जुन ने 74 श्लोक बोले। संजय ने 51 श्लोक बोले और धृतराष्ट्र ने 1 श्लोक बोला। महाभारत में वर्तमान कलियुग तक की घटनाओं का विवरण मिलता है। आज से लगभग 5500 वर्ष पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मित्र तथा भक्त अर्जुन को यह गीता सुनाई थी। गीता में 'योग' शब्द का अर्थ विभिन्न अर्थों के लिए हुआ है। यथा-

1. **'युजिर् योगे'** धातु से बना योगशब्द का अर्थ समरूप परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध से है। उदाहरणार्थ- **समत्वं योग उच्यते।**[3]
2. **'युज् समाधौ'** धातु से बना योगशब्द का अर्थ चित्त की स्थिरता अर्थात् समाधि की स्थिति से है। उदाहरणार्थ- **यत्रोपरमते चित्तं**

---

1. योग. 4/32
2. वहीं 4/34
3. गीता, 2/48

निरुद्धं योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।[1]

3. **'युज् संयमने'** धातु से बना योगशब्द का अर्थ सामर्थ्यप्रभाव से है। उदाहरणार्थ- **पश्य मे योगमैश्वरम्।**[2]

गीता का योग विलक्षण है। पातञ्जल योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।[3] तथा योग के परिणामस्वरूप अर्थात् जब वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति होती है। तात्पर्य यह है कि तब द्रष्टा की शुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थिति होती है **: तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**[4]

पातंजल योगदर्शन में योग का जो परिणाम बताया गया है, उसी को गीता में 'योग' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि गीता के अनुसार चित्तवृत्तियों से सर्वथा सम्बंध-विच्छेदपूर्वक स्वतः-सिद्ध सम-स्वरूप में स्वाभाविक स्थिति को योग कहते हैं **: 'सिद्ध्यसिद्ध्योस्समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते'**[5]

गीता में योग की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं। द्वितीय अध्याय के 48वें श्लोक में योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है **: 'योगस्थं कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय'** अर्थात् हे अर्जुन! तू कर्मफलों की आसक्ति त्यागकर समबुद्धि होकर कर्म कर; क्योंकि जिसका भूतों में समान भाव है, सिद्धि और असिद्धि में जिसकी बुद्धि समान रहती है, वही योग की अवस्था है अर्थात् योग साधक का चित्त सुख, में दुःख में, लाभ-हानि में, जय-पराजय में शीत-उष्ण, भूख-प्यास में आदि सभी द्वन्द्वों में समान बना रहता है। बुद्धि का यह समभाव ही योग है।

वास्तविक ज्ञान वही होता है; जो ज्ञान मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसरित कराता है। चूँकि कहा भी गया है- **सा विद्या या विमुक्तये,**

---

1. गीता, 6/20
2. वहीं 9/5
3. पातंजल योग, 1/2
4. वहीं, 1/3
5. 2/48

अतः गीता में भी मुक्ति प्रदायक ज्ञान है। इस बात की पुष्टि स्वयं व्यास जी ने महाभारत के शान्तिपर्व में प्रकट किया है **"विद्या योगेन रक्ष्यते"** अर्थात् ज्ञान की रक्षा योग से होती है। श्रीमद्भगवद्गीता को यदि योग का मुख्य ग्रन्थ कहा जाये, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। योग के आदिप्रवक्ता स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् है, इसलिए उन्हें योगेश्वर भी कहा गया है।

गीता का बार-बार पाठ, अध्ययन और मनन करने से या यों कहें कि गीता में नित्य-नित्य गहरा गोता लगाने से उसको दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्योतिर्मय रत्नों से भरे महासिन्धु में गोता लगाने वाला प्रत्येक डुबकी पर कुछ-न-कुछ पाता है। गीता का अध्ययन करते-करते हमें यह बोध होता है कि यह प्राचीन परम्परागत ज्ञान का आधार है। श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से कहा है- आदिकाल में भगवान् ने गीता का उपदेश सूर्य भगवान् को दिया, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को, मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार योग को ऋषियों और महर्षियों ने जाना। श्रीकृष्ण ने कहा- मेरे प्रिय पार्थ! मैंने गीता के इस महायोग को—अव्यय, शाश्वत या सनातन योग को-सबसे पहले विवस्वान् के प्रति कहा था। विवस्वान् ने मनु को और मनु ने अपने बड़े पुत्र इक्ष्वाकु को गीता के योग की दीक्षा दी। हे परंतप! मेरा यह योग एक-दूसरे को मिलता रहा और इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना। जब कभी इसका लोप हुआ, मैंने किसी-न-किसी के माध्यम से युगों-युगों में पुनः पुनः इस योग को प्रकट एवं स्थापित किया। मेरे प्रिय परंतप! तुम मेरे सखा हो, मुझे अतिप्रिय हो; अतः वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है। क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय को योग की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार अट्ठारह अध्यायों को क्रमशः निम्न योगों से अभिहित किया गया है; जो इस प्रकार है-

1. अर्जुनविषाद योग, 2. सांख्ययोग, 3. कर्मयोग, 4. ब्रह्मयोग, (ज्ञानकर्मसंन्यास योग), 5. कर्मसंन्यास योग, 6. आत्मसंयमयोग, 7. ज्ञानविज्ञानयोग, 8. अक्षरब्रह्मयोग, 9. राजविद्याराजगुह्ययोग, 10. विभूति-

योग, 11. विश्वरूपदर्शन योग, 12. भक्तियोग, 13. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग, 14. गुणत्रय-विभाग-योग, 15. पुरुषोत्तम-योग, 16. दैवासुरसम्पद्-विभाग-योग, 17. श्रद्धात्रय-विभाग-योग एवं 18. मोक्षसंन्यास-योग।

यदि इन सबका विश्लेषण किया जाए, तो प्रत्येक छः अध्यायों में उपदेश है। पहले छः अध्यायों में पाँच की साधना-प्रणाली का वर्णन है; जिन्हें कर्मयोग के अन्तर्गत रखा गया है।

अगले छः अध्यायों में भगवान् ने अपने उपदेश का मूल अथवा गीता हृदय खोल कर रख दिया है तथा अपने शिष्य को दिव्यदृष्टि प्रदान की है। इसमें भक्तियोग है।

अन्त के छः अध्यायों में भगवान् श्रीकृष्ण ने कुछ विशिष्ट एवं गूढ सिद्धान्तों की मीमांसा की है; जिन्हें समझने के लिए योग को पूर्णतः व्यवहार में लाना अत्यन्त आवश्यक है। यही ज्ञानयोग है।

गीता में योग के विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है, परन्तु गीता के अन्यान्य योगों में आपाततः योग के मुख्यतः तीन स्वरूप स्पष्ट दिखते हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है। गीता के दूसरे अध्याय में योग के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है :

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योस्समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[1]

अर्थात् जब साधक का चित्त सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होता है, तब इस अवस्था में साधक का चित्त सुख-दुःख, मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शीत-उष्ण, तथा भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों में समान बना रहता है। इस अवस्था में साधक सभी पदार्थों में समान भाव रखता है। इस अवस्था के कारण उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं। इसी समत्त्वभाव का नाम योग है। गीता के दूसरे अध्याय में ही योग की एक अन्य परिभाषा देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

---

1. गीता 2/48

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥[1]

इस कथन का अभिप्राय है कि फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना ही कर्मकौशल है। कर्म करते हुए यदि कर्ता कर्म में आसक्त हो गया, तो वह कर्मकौशल नहीं कहलाता है। कर्ता की कुशलता तो यह है कि कर्म करके उसको वहीं छोड़ दिया जाये। हानि और लाभ, जय अथवा पराजय, कार्य-सिद्धि या असिद्धि के विषय में चिन्ता ही न की जाये। कर्ता तो स्वतन्त्र हुआ करता है। कर्म करते हुए यदि कर्ता उस कर्म का दास होकर रह गया, तो वह कर्ता का अस्वातन्त्र्य हुआ।

यदि कर्म ने कर्ता को पराधीन कर दिया, तो यह कर्म की विजय हुई; कर्ता की नहीं। कर्ता का स्वातन्त्र्य तो तब सिद्ध होता है, जब कर्ता स्वेच्छया कर्म का और उसके फल का त्याग कर देता है। अतः फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना ही कर्मकौशल है। दुष्कृत में आसक्ति की अपेक्षा भी सुकृत में आसक्ति को छोड़ना और कठिन है। किन्तु जिसको यह अनासक्तियोग की बुद्धि प्राप्त हो गई, वह दुष्कृत को और विशालतर सुकृत को- इन दोनों को ही त्याग देता है। इसलिए तू इस अनासक्ति योग की प्राप्ति के लिए जुट जा। जो लोग इस अनासक्ति योग को प्राप्त कर लेते हैं, वे जन्म के बन्धनों से घबराते नहीं। विपरीत-से-विपरीत परिस्थितियों को लाँघ कर पार हो जाते हैं। इसी कुशलता का नाम योग है।

योग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिभाषा देते हुए गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं : मनुष्य जीवन पर्यन्त दुःखों से संयोग बनाए रहता है। दुःखों के इसी संयोग का पूर्णतः वियोग हो जाना, दुःखों की सदा के लिए समाप्ति हो जाना ही योग है : **दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**[2]; क्योंकि जब दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, तो वे पुनः उत्पन्न नहीं होते।

---

1. गीता 2/50
2. गीता 6/23

गीता में योग-शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। परन्तु मुख्य रूप से गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग इन तीन योग मार्गों का विस्तृत रूप में वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में योग का फल बताते हुए कहा है कि जो साधक योग का आचरण करता है, जिसका हृदय शुद्ध है, जिसने अपने आपको जीत लिया है, जिसने अपने इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसकी आत्मा सब भूतों की आत्मा बनी है; वह कर्म करता हुआ भी अलिप्त रहता है :

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता योगशास्त्र ही है। इसके सभी अध्यायों में योग की विस्तृत चर्चा मिलती है। इसमें योग साधक के लिए विभिन्न योगमार्गों का वर्णन किया गया है; जिसके अनुरूप प्रत्येक मनुष्य कोई एक मार्ग को अपनाकर परमलक्ष्य मोक्ष तक पहुँच सकता है।

हठयोग

प्राचीनकाल में हमारे देश के मनीषियों ने ईश्वर प्राप्ति के अनेक साधनों की खोज की थी। उन साधनों में से एक साधन योग-शास्त्र भी है। यौगिक साधनाओं का अभ्यास करके मनुष्य सुख आनन्द और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। योगशास्त्र स्वयं में सम्पूर्ण शास्त्र है। अतः योगविज्ञान ही सर्वोपरि विज्ञान है।

सामान्य रूप से हठयोग का अर्थ व्यक्ति जिदपूर्वक, हठपूर्वक किए जाने वाले अभ्यास एवं कार्यों से लेता है। अर्थात् किसी अभ्यास को जबरदस्ती करने के अर्थ में हठयोग जिदपूर्वक जबरदस्ती की जाने वाली क्रिया है। हठयोग शब्द पर अगर विचार करें तो दो शब्द हमारे सामने आते हैं- ह और ठ; जिनका अर्थ है :

ह- हकार अर्थात सूर्य नाडी। (पिंगला)

ठ- का अर्थ है- ठकार अर्थात् चन्द्र नाडी। (इडा)

हठयोग के इसी हकार तथा ठकार शब्द को संस्कृत शब्दार्थ

1. गीता 5/7

कौस्तुभ ने भी स्वीकार किया है। सामान्य रूप हठयोग के परिपेक्ष्य में यह अवश्य प्रतीत होता है कि हठपूर्वक (जिदपूर्वक) की जाने वाली क्रिया हठयोग है। परंतु यह सही नहीं है।

योगशिखोपनिषद् में योग की परिभाषा देते हुए कहा है कि अपान व प्राण, रजस् व तमस्, सूर्य व चन्द्र तथा जीवात्मा व परमात्मा का मिलन ही योग है। यह परिभाषा भी हठयोग की सूर्य व चन्द्र के मिलन की स्थिति को प्रकट करती है–

हकारेण तु सूर्यः स्यात् उकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्यचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते।।

हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तपोरैक्यं तदाभवेत्।।[1]

अर्थात्– हकार से सूर्य या दक्षिण स्वर होता है और ठकार से चन्द्र या वाम स्वर होता है। इस सूर्य + चन्द्र-दोनों स्वरों में समता स्थापित हो जाने का नाम हठयोग है। हठ द्वारा सब दोषों की कारणभूत जड़ता का नाश हो जाता है और तब साधक क्षेत्रज्ञ (परमात्मा) से एकता प्राप्त कर लेता है।

हठयोग की क्रिया एक उचित तथा श्रेष्ठ मार्गदर्शन में की जाये, तो साधक सहजतापूर्वक इसे कर सकता है। हठयोग की कुछ क्रियाएँ कठिन अवश्य कही जा सकती है। इन्हें करने के लिए निरन्तरता और दृढ़ता आवश्यक है, प्रारम्भ में साधक हठयोग की क्रिया के अभ्यास को देखकर जल्दी करने के लिए अपने को तैयार नहीं करता इसलिए। एक सहनशील, परिश्रमी, जिज्ञासु और तपस्वी व्यक्ति ही इस साधना को पूर्ण कर सकता है।

उद्घाटयेत्कपाटन्तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।[2]

---

1. योगशिखोपनिषद्
2. ह.प्र. 3/105

अर्थात्- जिस प्रकार जनसामान्य कुञ्जी से घर के द्वार को खोलता है; योगी को चाहिए कि उसी प्रकार वह हठयोग की तपस्या करके कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोले।

पीठानि कुम्भकाश्चित्राः दिव्यानि करणानि च।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधिः।।[1]

अर्थात् अनेक प्रकार के आसन, अनेक प्रकार के कुम्भक और हठयोग की क्रियाएँ तब तक करनी होती हैं, जब तक राजयोग अर्थात् समाधिरूपी फल प्राप्त न हो जाते।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः।।[2]

अर्थात् जो व्यक्ति संसार के अनन्त कष्टरूपी ताप से तप रहे हैं, उनके लिए हठयोग की साधना सुखदायक घर के समान है। और जो साधक विविध प्रकार की योगसाधनाओं में लगे हुए हैं, उनके लिए हठयोग की साधना उसी प्रकार आधारभूत है; जिस प्रकार (पौराणिक कथा) समुद्रमन्थन के समय मन्दराचलरूपी मथनी के लिए कच्छप (कूर्म) आधार बना हुआ था।

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद् बलवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।।[3]

अर्थात् साधक यदि सिद्धि चाहता है, तो उसे चाहिए कि अपनी हठयोग की साधना का प्रकाशन न करे। साधना गुप्त रहने पर बलवती होती है और प्रकाशित करने पर निष्फल हो जाती है।

हठयोग का उद्देश्य :-

हठयोग के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं। जैसे- स्वास्थ्य का संरक्षण, रोग से मुक्ति, शिक्षा, पर्यटन, स्पोर्ट्स, सुप्त चेतना की जागृति,

1. ह. प्र. 1/69
2. वहीं 1/10
3. वहीं 1/11

व्यक्तित्व विकास, जीविकोपार्जन तथा आध्यात्मिक उन्नति इसका मुख्य उदेश्य है।

हठयोगप्रदीपिका का संक्षिप्त परिचय

हठयोगप्रदीपिका हठयोग का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पाँच खण्डों में विभाजित है। इसके विभागों को उपदेश नाम से अभिहित किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में स्वात्माराम ने हठयोग के महत्त्व को सूचित करने के लिए आदिनाथ से लेकर कापालिक पर्यन्त तैंतीस महासिद्धों का नामतः तथा 'इत्यादि' पद से अन्य असंख्य सिद्धों को संकेत करते हुए लिखा कि वे कालखण्ड अर्थात् मृत्यु को जीतकर आज भी विचरण कर रहे हैं। हठयोग की अनेक क्रियाओं के प्रसङ्ग में लेखक ने इसे इक्कीस बार मृत्यु को जीतने वाला, सात बार परमपद मोक्ष प्रदान करने वाला चार बार पापों (पाप फलों) को नष्ट करने वाला और चौदह बार रोगों को दूर करने वाला बताया है। यह कथन बहुधा साधक की उपलब्धियों से सत्य प्रमाणित हुआ है, अतः इन कथनों को अर्थवादमात्र नहीं कहा जा सकता है। स्मरण रखना चाहिए कि योगीन्द्र स्वात्माराम के अनुसार हठयोग स्वयं में साध्य नहीं, अपितु राजयोग का साधन है। इसका संकेत उन्होंने एक दर्जन से अधिक बार किया है। वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहते हैं **केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते**[1] अर्थात् हठविद्या का उपदेश केवल राजयोग तक पहुँचने के लिए किया जा रहा है। वे चतुर्थ उपदेश में ग्रन्थ के उपसंहार में पुनः कहते हैं : **'सर्वे हठलयोपायाः राजयोगस्य सिद्धये। राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः॥'**[2] अर्थात् हठयोग की सभी साधना तथा नादानुसन्धान आदि चित्तलय के सभी उपाय राजयोग तक पहुँचने के लिए ही हैं; क्योंकि जिसने राजयोग में सिद्धि प्राप्त कर ली, वह मृत्यु को भी जीत लेता है।

---

1. (1.2)
2. (4.103)

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।[1]

अर्थात् उस आदिनाथ को प्रणाम है; जिन्होंने हठयोग विद्या अर्थात् हठयोग की साधनाविधि का सर्वप्रथम उपदेश किया है। जो राजयोग की साधना विधि उत्कृष्टतम अर्थात् सभी योग-साधना-विधियों में सर्वश्रेष्ठ है, उस तक पहुँचने के लिए सोपान (सीढ़ी) के समान है।

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।।[2]

अर्थात् योगी स्वात्माराम गुरु मत्स्येन्द्र और उनके भी गुरु आदिनाथ को (गुरुपरम्परा को) प्रणाम करके केवल राजयोग साधना की योग्यता प्राप्त करने के लिए हठयोग की साधना विधि का उपदेश कर रहे हैं। विचारणीय केवल पद से यह संकेत मिलता है कि इस हठयोग साधनाविधि का प्रयोजन राजयोग की साधना की योग्यता प्राप्त करना है।

हठयोगप्रदीपिका के लेखक श्रीस्वामी स्वात्माराम जी थे। स्वामी स्वात्माराम जी हठयोग का प्रथम उपदेश आसन मानते हैं, इसलिए वे सर्वप्रथम आसनों का विवरण प्रारम्भ करते हैं। वे यह मानकर भी कि आसन अनेक हैं; किन्तु वे केवल स्वस्तिकासन, गोमुखासन, वीरासन, कूर्मासन, कुक्कुटासन, उत्तानकूर्मासन, धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, मयूरासन, शवासन का ही वर्णन करते हैं। वे यद्यपि चौरासी आसनों की संख्या मानते हैं और **पंद्रह आसनों** का वर्णन करते हैं। किन्तु उन सभी आसनों में **सिद्धासन**, **पद्मासन**, **सिंहासन** और **भद्रासन**- इन चार आसनों को सर्वप्रमुख मानते हैं। पूर्व परिगणित 11 आसनों को भी मुख्य साधना में कम उपयोगी मानते हैं।

द्वितीय उपदेश में वे **षट्कर्मों** का वर्णन करते हैं : धौति, नेति, त्राटक और नौलि का वर्णन करके सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लावनी कुम्भक प्राणयामों की विधि का

---

1. हठयोगप्रदीपिका 1/1
2. वहीं 1/2

शारीरिक लाभ सहित वर्णन करके केवल कुम्भक का संकेतमात्र करते हैं। वे इस ग्रन्थ में शुद्धि के लिए प्रचलित **षट्कर्मों** का द्वितीय उपदेश में धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इनका अभ्यास मोटे और कफ प्रधान लोग ही करें; अन्य नहीं।

तृतीय उपदेश में **कुण्डलिनी साधना** का उपक्रम करके महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीत-करणी, वज्रोली, और शक्तिचालन मुद्राओं का इनकी एवं महिमा का वर्णन करते हुए किया है। साथ ही वज्रोली के वर्णन के साथ उसके अंग के रूप में अमरोली और सहजोलि का भी वर्णन किया है।

चतुर्थ उपदेश में ग्रन्थकार ने कुण्डलिनी-साधना का संक्षिप्त वर्णन किया है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि इस साधना के क्रम में ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन और हित-मिताहार आवश्यक है और कहा है कि जो इसका अभ्यास नित्य करता है, उसे मृत्यु का भय नहीं होता, साधक की सभी बहत्तर हजार नाड़ियों का शोधन हो जाता है।

चतुर्थ उपदेश में ग्रन्थकार ने समाधि का संकेत करते हुए कहा है कि समाधि की अवस्था में प्राण की गति नहीं रहती, मन की चञ्चलता पूर्णतया समाप्त हो जाती है; क्योंकि सुषुम्ना में प्राणों का प्रवेश होता है और **कुण्डलिनी जागरण** के फल स्वरूप ही समाधि होती है। इस अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा का अन्तर मिट जाता है। चित्त में पूर्ण शान्ति होती है, इस समय जिस अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है उसका वर्णन असम्भव है। उनके अनुसार सुषुम्ना में प्राणों के प्रवेश और कुण्डलिनी जागरण के अतिरिक्त समाधि प्राप्ति का एक और उपाय है नादसाधना। वे कहते हैं कि आदिनाथ ने लय साधना के जो सवा कोटि उपाय बताये हैं; उनमें नादानुसन्धान सर्वोत्तम है। समाधि हेतु साधना की यात्रा में चार अवस्थाएँ होती हैं : आरम्भ अवस्था, घटावस्था परिचयावस्था और चतुर्थ निष्पत्ति अवस्था। इसके लिए वे भूमध्य में ध्यान करने को अधिक प्रशस्त मानते हैं। समाधि की उपलब्धि को, जिसे वे राजयोग भी कहते हैं, उसे ही हठयोग का साध्य मानते हैं।

पञ्चम उपदेश में योगसाधना के मध्य आहार-विहार आदि में व्यतिक्रम हो जाने के उत्पन्न होने वाले रोगों की चिकित्सा के लिए प्राण-साधना-रूप कुछ क्रियाओं का निर्देश किया है। साथ ही आयुर्वेदिक चिकित्सा की भी सहायता लेने के सुझाव दिया है। अन्त में उनका कथन है कि किसी भी स्थिति में योग-साधना को बन्द न करे, उसे नियमित करते रहें। अतः साधक को चाहिए कि वह आसन प्राणायाम और मुद्राओं की साधना करता हुआ सुषुम्ना में प्राणों के प्रवेश द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत् करके अथवा नादानुसन्धान द्वारा समाधि को सिद्ध करे और अपने जीवन को सफल बनाये।

घेरण्ड संहिता का संक्षिप्त परिचय

घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड और नृप चण्डकापालि के संवाद रूप में प्रस्तुत किया गया है। किसी समय में एक चण्डकापालि नाम का राजा महर्षि घेरण्ड के आश्रम में आया और ऋषि को दण्डवत प्रणाम करके बोला : हे ऋषिश्रेष्ठ! मेरी जिज्ञासा योगशास्त्र को जानने की है। अतः आप कृपा करके मुझे योगशास्त्र का उपदेश दीजिये। राजा के द्वारा ऐसे मृदु वचनों को सुनकर योगेश्वर ऋषि घेरण्ड अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले : हे राजन्! आप योग के बारे में जानना चाहते हैं, यह सुन मुझे अति प्रसन्नता हुई। अतः मैं आपको योगशास्त्र का ज्ञान अवश्य दूँगा। आप मन को स्थिर कर सुनें। महर्षि घेरण्ड ने जिस योगशास्त्र का वर्णन किया है उसे सात भागों (उपदेशों) में विभाजित किया है।

प्रथम उपदेश में ऋषि ने योग के **सात साधनों का वर्णन किया है।** जिनके द्वारा देह, मन तथा **इन्द्रियों आदि का शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, लाघवता** (हल्कापन), **प्रत्यक्षीकरण** व कार्य करते हुये भी उसमें लिप्त न होने की क्रिया आदि का संक्षेप में वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त षट्कर्मों आदि का भी वर्णन किया गया है; जिनके द्वारा देहादि को शुद्ध करना, मलरहित करना तथा रोग आदि का नाश करके शरीर को पुष्ट बनाना आदि कार्य होते हैं। **षट्कर्मों में धौति क्रिया, वस्ति क्रिया, नेति क्रिया, लौलिकी विधि, त्राटक क्रिया**

तथा कपालभाति आदि क्रियाओं का वर्णन किया गया है। रचनाकार ने प्रत्येक क्रियाविधि का वर्णन करने के साथ उस क्रिया से प्राप्त फल का भी वर्णन किया है। साधक जिस मुद्रा को करता है, उस मुद्रा से होने वाला लाभ उसको प्राप्त होता है।

द्वितीय उपदेश में योगासनों की विधियों को कहा गया है। योगाभ्यास के लिये अत्यन्त उपयोगी **बत्तीस आसनों** की विधियों का वर्णन किया गया है। ये आसन योगाभ्यास के लिये जितने उपयोगी हैं उतने ही उपयोगी शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी है। साधक इन आसन विधियों को क्रियात्मक रूप में अपना कर जीवन में निरोगता को प्राप्त कर सकता है तथा जरा (बुढ़ापा) को दूर कर चिरयौवन को प्राप्त कर सकता है।

तृतीय उपदेश में ऋषि ने योग-मुद्राओं का वर्णन किया है जिसमें **महामुद्रा, खेचरीमुद्रा, योनिमुद्रा, शक्ति चालिनी मुद्रा** तथा **शाम्भवी-मुद्रा** आदि प्रमुख 25 मुद्राओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। तथा उड्डीयान आदि **चार प्रकार के बन्धों** का भी वर्णन है। इनके अतिरिक्त पंचधारणाओं को भी कहा गया है; जिनका साधन करनेमात्र से मनुष्य इस भूतल में ही सभी सुख व आनन्द को प्राप्त कर सकता है। इन मुद्राओं व धारणाओं का साधन करने वाले साधक के लिये संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं है।

चतुर्थ उपदेश में प्रत्याहार के सम्बन्ध में उपदेश किया गया है। प्रत्याहार के द्वारा साधक मन और इन्द्रियों को वशीभूत कर लेता है।

पंचमउपदेश में प्राणायाम क्रिया का उपदेश किया गया है और **कालनिर्णय, मित आहार, नाड़ीशुद्धि तथा आठ प्रकार के कुम्भक प्राणायाम** विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

षष्ठ उपदेश में ध्यानयोग का वर्णन मिलता है। ध्यानयोग की विधियों को अत्यन्त सुगमता से वर्णित किया गया है। **स्थूल ध्यानयोग, ज्योतिर्ध्यान योग तथा सूक्ष्म ध्यानयोग** की विधियों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

सप्तम उपदेश में समाधियोग का उपदेश किया है। समाधि के भेद और उनकी विधियों का सविस्तार वर्णन किया है। इस प्रकार महर्षि ने समाधियोग से प्राप्त फल का कथन करते हुये ग्रन्थ का समापन किया है।

महर्षि घेरण्ड ने योग के सभी आयामों का विस्तृत वर्णन किया है। साधक योग के उपरोक्त आयामों का क्रमशः अभ्यास करके सिद्धि को प्राप्त करता है। योगसिद्ध साधक के लिये इस धरती पर कुछ भी अप्राप्य नहीं है। योगशास्त्र की साधना करके मनुष्य अष्टसिद्धियों; यथा अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व तथा कामावशायित्व को प्राप्त कर सकता है। इसके द्वारा मनुष्य सभी सुख, आनन्द को प्राप्त करता हुआ अमरत्व को प्राप्त कर लेता है और अंत में मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

भक्ति सागर

लेखक का सामान्य परिचय

भक्तिसागर के लेखक श्री सन्त चरणदास जी हैं। इनका समय 1703-1785 के मध्य का रहा है। वे भारत के योगाचार्यों की शृंखला में प्रमुख योगी के रूप में जाने जाते हैं। इन्होंने चरणदासी सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि रखते हुए योगसाधना को विशेष महत्व दिया।

सन्त चरणदास का जन्म गाँव देहरा, जिला अलवर, राजस्थान में च्यवनगोत्रीय भृगुवंशी परिवार में विक्रम संवत् 1760 अर्थात् 1703 ईस्वी में हुआ। उनके पिताजी का नाम श्रीमुरलीधर दास और माताजी का नाम कूजो देवी था। बतलाया जाता है कि सन्त चरणदास को पाँच वर्ष की अल्पायु में ही गाँव के बाहर नदी के किनारे भगवान् वेदव्यास ने दर्शन दिये थे। बचपन से ही मोह-माया से विरक्त होकर अल्पायु में ही वे तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़े और शुक्रताल पहुँचने पर श्रीगंगाजी के तट पर 'शुकदेव मुनि' से उनकी भेंट हुई। उन्हीं के सान्निध्य में रहकर

उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया और उन्होंने श्री श्याम चरण दास जी को दर्शन देकर गुरुदीक्षा प्रदान की। उसके बाद वे पुरानी दिल्ली में आकर रहने लगे और 14 वर्ष तक भक्ति और तप किया। फिर वे श्रीवृन्दावन में चले गये जहां श्रीराधा-कृष्ण युगल सरकार ने उन्हें दर्शन दिये। भक्ति और तप से मानवमात्र के दु:खों को दूर करने लगे। उनकी ख्याति सुनकर दिल्ली के तत्कालीन बादशाह मुहम्मदशाह उनके पास आने लगे और उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। सन्त चरणदास जी कृष्णभक्ति की सशक्त डोर लिए जीवन के लक्ष्य साधन हेतु 'अष्टांग योग' की साधना का प्रचार करने लगे। 79 वर्ष की अवस्था में सन् 1739 विक्रमी अथवा 1782 ई० में चरणदास जी समाधिस्थ हुए।

भक्तिसागर

मंगलाचरण

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीष-
शुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि।।

अर्थात् प्रह्लाद, नारद पराशर, पुंडरीक, व्यास, अम्बरीष, शुकदेव, शौनक, भीष्म, दाल्भ्य, रुक्माङ्गद, अर्जुन (सहस्त्रार्जुन), वशिष्ठ और विभीषण आदि इन पुण्य प्रदान करने वाले परम भक्तों को हम नमस्कार करते हैं।

भक्ति शब्द का सामान्य अर्थ-

भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति **'भज् सेवायाम्'** धातु से हुई है; जिसका अर्थ सेवा करना या भजना है। अर्थात् श्रद्धा और प्रेमपूर्वक अपने इष्ट देवता के प्रति समर्पण ही भक्ति है। नारदभक्तिसूत्र में भक्ति को परम प्रेमरूप और अमृतस्वरूप कहा गया है। इसको प्राप्त कर मनुष्य कृतकृत्य, संतृप्त और अमर हो जाता है। महर्षि वेदव्यास ने पूजा में अनुराग को ही 'भक्ति' कहा है। भारतीय धार्मिक साहित्य में भक्ति का

उदय वैदिक काल से ही दिखाई पड़ता है।

प्रथम दोहा

मथुरा मण्डल परमशुचि, वृंदावन रस रास।
रच्यो शुकमुनी शिष्य ने, नाम श्यामचरनदास।

भक्तिसागर में वर्णित विषय-

1. अष्टांगयोग 2. षट्चक्र 3. दश नाद 4. नाड़ी 5. षट्कर्म 6. मुद्राएँ 7. बन्ध 8. अष्टसिद्धियों का वर्णन 9. पञ्च उपनिषद् वर्णन 10. चार युग वर्णन 11. अष्टांग वर्णन।

1. अष्टांगयोग

1. यम :-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धैर्य, दया, आर्जव, मिताहार, शौच।

2. नियम :- तप, संतोष, आस्तिक, दान, ईश्वरप्राणिधान, श्रवण, लज्जा, मति, जप, हवन।

3. आसन :-पद्मासन, सिद्धासन।

4. प्राणायाम :-अष्टकुंभक सूर्यभेदन, उज्जाई, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, केवली।

5. प्रत्याहार :-स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:।

6. धारणा :-देशबन्धचित्तस्य धारणा।

7. ध्यान :-पदस्थ, पिंडस्थ, रुपस्थ, रुपातीत।।

8. समाधि :-भक्ति, योग, ज्ञान।।

भक्तिसागर योग प्रारंभ दोहा :-

व्यासपुत्र धनि धनि तुम्हीं, धनि धनि यह अस्थान।
मम आशा पूरी करी, धनि धनि वह भगवान।।

1. यम-यम के 10 भेद

1. अहिंसा :-

प्रथम अहिंसाहि सुन लीजै,
मनकरि काहू दोष न कीजै।

2. सत्य,

दूजे सत्य सत्यही बोले,
हिरदै तौलि वचन मुख खोलै।

3. अस्तेय :-

तीजे असते त्याग सुनीजै,
तन मन सों कहु नाहिं हरीजै।

4. ब्रह्मचर्यः-

चौथा ब्रह्मचर्य बतलाऊं,
भिन्न-भिन्न करि ताहि सुनाऊं।

5. क्षमा :-

पंचवी सुखदाई क्षमा जलन बुझावै सोय,
जोटुक आवै घटविषे पातक डारै खोया।

6. धैर्य :-

छठां अंग धीरज को जानौ,
धीरजही हिरदय में आनौ।

7. दया :-

दया सातवी अब सुनि लीजै,
सब जीवन की रक्षा कीजै।

8. आर्जव :-

अठवैं कहूं आर्य्यवै खोलै,
कोमलहृदय सों कोमलबोलै।

9. मिताहार :-

मिताहार जो नवें की समझ लेहु मनमाहि,
सतगुन भोजन खाइये ऐसा वैसा नाहिं।

10. शौच :-

दशवां शौच पंवित्तर रहिये,
कर दातौन हमेश नहइये।

2. नियम के 10 भेद

दूजा अंग नियम का गाऊं, भिन्न-भिन्न सब अंग बतलाऊं।
पहला तप इन्द्री वश कीजै, इनके स्वाद सभि तजि दीजै।
दूजा अंग कहूं संतोषा, हानि भये नहि माने शोका।
तीजा अंग आस्तिक हैं जाका सुनो विचार,
समझ समझ मनमें धरों ताको गहो संभार।

4. दान:

चौथा दान अंग विधि होई, पात्र कुपात्र विचारै सोई।

5. ईश्वर पूजा-

पंचम ईश्वर पूजा करिये, तन मन बुद्धि जहांलै धरिये।

6. श्रवण-

छठें सिद्धांत श्रवण सुन बानी, करि विचार गहिये मनमानी।

7. लज्जा-

सातवां वहीं जु कहिये लाजा, स वह सकल संवारन काजा।

8. मति-

अष्टम हूं मती दृढ़ जो कहिये, सो विशेष साधनकूं चहिये।

9. जप-

नवयें जाप करैं गहि मोना, मन जिज्ञासुं कीजै जौना।

10. हवन-

दशवें समझौ होम ही, कीजै दोय प्रकार,
अंगन माहि साकिल्ल कूं, वेद कहे ज्यों डार॥

3. अथ आसन वर्णन दोहा-

चरणदास निश्चय करौ, बिन आसन नहि योग।
जो आसन दृढ़ होय तो, योग सधै भजि रोग।

आसन के 2 प्रकार -

1. पद्मासन-

पहिले आसन पदम बताऊं, ज्यों की त्यों मूरति दिखलाऊं।

2. सिद्धासन-

दूजा आसनसिद्ध जुकीजे, बावां पावं गुदाढिग दीजै।

4. अथ प्राणायाम वर्णन

दोहा-

चौथे प्राणायामही कहूं, सुनौ चित्त लाय।
जाबल जीवें पनकूं, चुड़ै गगन कूं धाय।।

दोहा-

अब आठौ कुंभक कहूं, नावं भेद गुण रुप शुकदेव
कहें परसिद्ध हैंच, योगहि माहि अनूप।

प्रथमें कुंभकही कहूं, नावं जु सूरज भेद।
दूजे ऊजाई सुनों, साधे छुटें खेद।

शीतकार अरु शीतली, पांचवी भस्त्रक जान।
छठीं जु भ्रमरी नाम है, नीके समझि पिछान।
नावं मूर्छा सातवीं, आठवीं केवल होये।
रणजीता सबसे बड़ी, आयु बढ़ावै सोय।

5. अथ प्रत्याहार वर्णन

दोहा-

प्रत्याहार जो पांचवां, समझाऊं चरणदास।
शुकदेव कह कहूँ खोलकरि, नीके समझौ तास।।

6. अथ धारणा वर्णन

दोहा-

तत्त्वनकी कहुं धारणा, तिनमें करै प्रवेश।
शनई शनई साधिकरि, पहुंचे निर्भयदेश।।

7. अथ ध्यान वर्णन दोहा-

अंग धारणा का कहा, सो धारा चितमाहिं।
ध्यान अंग बरणन करौं, मैं रहुं चरणन छाहिं।।

ध्यान के 4 प्रकार अथ पदस्थ ध्यान-

हिय पद पंकज ध्यान करि, फिरि करि सारी देह।
नखशिखलौं छविनिरखिकै, चरणन में चित्तदेह।

अथ पिंडस्थ ध्यान-

ब्रह्म सोई यह पिंड हैं, यामैं करि करि वास।
कमलन के लखि देवता, लहो परापत तास।।

अथ रूपस्थ ध्यान रूपस्थ ध्यान को भेद सुनि,
कीजै मन ठहराय।
देखे त्रिकुटी मध्य हे, निश्चल दृष्टि लगाय।।

अथ रूपातीत ध्यान- रूपातित शून्यध्यानहिंजानो, शून्यहि को परब्रह्म पिछानो। चिदानंद ताकि हिय आनो, वाही में मनहीं को सानो॥

अथ समाधि वर्णन-

अठवीं कहूं समाधि लक्षण वर्णन करुं।
तोको सव समुझाय तेरी दुविधा हरुं।।

भक्ति समाधि-

सब इन्द्रिन को रोंकि के, करि हरि चरणन ध्यान।
बुद्धि रहै सुरत रहै, तौ समाधि मत मान।।

योग समाधि–

आपा विसरै ध्यान में रहै सुरति नहिं नादी।
लीन होय किरिया रहित, लागै योग समाधि।।

ज्ञान समाधि–

जबलगतत्व विचारि करि, कहें एक अरु दोय।
ब्रह्मव्रत बांधे रहे, ह्यांलग ध्यानहिं होय।।

ज्ञान रहित ज्ञाता रहित, रहित ज्ञेय अरु जान।
लगी कभी छूटें नहीं, यह समाधि विज्ञान।।

2. षट्चक्र :-

1. मूलाधारचक्र 2. स्वाधिष्ठान चक्र 3. मणिपुर चक्र 4. अनाहत चक्र 5. विशुद्धि चक्र 6. आज्ञा चक्र

3. दश नाद :-

1. चहचहाने का नाद 2. चि की नाद 3. घंटे की नाद 4. शंखनाद की 5. बीन जैसा नाद 6. ताल की ध्वनि 7. मुरली की ध्वनि 8. पखावज नाद 9. नफ़ीरी नाद 10. सिंह नाद।

4. नाड़ियाँ :-

भक्ति सागर में 72,864 नाड़ियों का वर्णन किया गया है। परंतु इनमें से 5 दायीं ओर और 5 बायीं ओर कुल 10 को श्रेष्ठ माना हैं। इनमें भी मुख्य तीन नाड़ियों को श्रेष्ठ माना गया है; जो हैं : 1. पिंगला 2. इड़ा 3. सुषुम्ना।

5. षट्कर्म :-

1. नेति कर्म 2. बस्ति कर्म 3. त्राटक कर्म 4. धौती कर्म 5. न्यौली कर्म 6. गजकर्म।

मुद्रा– 1. खेचरी मुद्रा 2. भूचरी मुद्रा 3. चांचरी मुद्रा 4. अगोचरी मुद्रा 5. उन्मनी मुद्रा।

बंध- 1. महाबंध 2. जालंधर बंध 3. उड्डीयान बन्ध 4. मूलबंध।

अष्ट सिद्धि वर्णन

1. अणिमा 2. महिमा 3. लघिमा 4. गरिमा 5. प्राप्ति 6. प्रकाम्य 7. वशित्व 8. ईशित्व।

पंच उपनिषद वर्णन- 1. हंसनाथ उपनिषद् 2. सर्वोपनिषद् 3. तत्त्वयोग उपनिषद् 4. योगशिखा उपनिषद् 5. जो बिन्दू परिषद् उपनिषद्।

चार युग वर्णन- 1. सतयुग 2. त्रेतायुग 3. द्वापरयुग 4. कलि-युग।

अष्टांग वर्णन- 1. राग 2. क्रोध 3. मोह 4. लोभ 5. अभिमान 6. शीलता 7. दया 8. माया।

शिवसंहिता

ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्याप्यं समन्ततः।
एकोऽस्ति सच्चिदानन्दः पूर्णो द्वैतविवर्जितः॥[1]

ब्रह्मा आदि सब जगत् में वही एक आत्मा परिपूर्ण व्याप्त है; वह एक सच्चिदानन्द परिपूर्ण द्वैतरहित है अर्थात् दूसरा कुछ नहीं है।

शिवसंहिता का सामान्य परिचय

भगवान् शिव ने सर्वमोक्षकांक्षी महापुरुषों के लिए और संसार के उपकार के लिए यह ग्रंथ माता पार्वती जी के प्रश्नोत्तरों के रूप मे योगमार्ग, ब्रह्मज्ञान, हठयोगक्रिया, राजयोग, सत्यज्ञान, ईश्वर व सृष्टि उत्पत्ति आदि का कृपापूर्वक योगोपदेश दिया है। इसलिए यह ग्रंथ योगाभ्यासियों के लिए अत्यंत उपयोगी है।

शिवसंहिता में भगवान् शिव और माता पार्वती के बीच का संवाद है। शिवसंहिता ग्रन्थ में पंच पटल हैं; जिन्हें पाँच अध्यायों के नाम से

---

1. शिवसंहिता 1/56

जानते है। भगवान् शिव हठयोग के प्रणेता हैं। शिवसंहिता में भगवान् शिव द्वारा माता पार्वती को प्रदत्त योगज्ञान समाहित है। शिवसंहिता का अर्थ है- शिवतत्त्व को प्राप्त कराने वाली संहिता, शिवसंहिता का लक्ष्य भी यही है। शिवसंहिता में पाँच पटलों में विभाजित यह ग्रन्थ योग से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा करता है। शिवसंहिता में, ज्ञान एवं योग का अभ्यास- दोनों को समान महत्त्व दिया है। दिशाहीन अभ्यास निरर्थक है और ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ज्ञानप्राप्ति के लिये किया गया योगाभ्यास ही फलित होता है। एकमात्र आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है।

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं
नान्यत् किञ्चिद्वर्त्तते वस्तु सत्यम्।
यद्भेदोस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै
ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव[1]॥1॥

अर्थात् केवल एक ज्ञान नित्य आदि अन्तरहित है, ज्ञान से अलग अन्य कोई वस्तु संसार में वर्तमान नहीं है। केवल इन्द्रियोपाधिद्वारा संसार जो भिन्न-भिन्न बोध होता है, सो यह ज्ञानमात्र ही प्रकाशित होता है और कुछ नहीं है; अर्थात् ज्ञान से भिन्न कुछ नहीं है।

प्रथम पटल का विषय लयप्रकरण है और इसमें कुल 104 श्लोक हैं। द्वितीय पटल में तत्त्वज्ञान उपदेश दिया है, इसमें 57 श्लोक हैं। तृतीय पटल मे योग के अनुष्ठान और अभ्यास का वर्णन किया है; इसमें 118 श्लोक हैं। चतुर्थ पटल मे मुद्रिका योग प्रकरण का वर्णन किया है और इस मे 111 श्लोक है, पंचम पटल मे भोगरूप विघ्न, विद्या और मुक्ति के मार्ग के विघ्न आदि का वर्णन किया है। इसमें 255 श्लोकों का संकलन किया है इस प्रकार इस ग्रंथ मे कुल 645 श्लोकों में विषय का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रथम पटल : मंगलाचरण और लयप्रकरण

प्रथम पटल अर्थात् प्रथम अध्याय में आदि और अंत से रहित नित्य तथा सत्य वस्तु एकमात्र अभेद ज्ञान की चर्चा की गई है :

1. शिवसंहिता 1/1

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं
नान्यत् किञ्चिद्वर्त्तते वस्तु सत्यम्।[1]

इस एक में जो भेद की प्रतीति होती है, वह इंद्रियों की उपाधि के कारण होती है। मुक्ति के लिए प्रचलित सिद्धांत के बारे में बताते हुए कहते हैं कि सत्य ही मुक्ति है : तप, शौच, क्षमा, शम, आर्जव (सरलता), दान, पितृकर्म, कर्मवैदिक, वैराग्य, गार्हस्थ कर्म, अग्निहोत्र कर्म, मंत्र योग, तीर्थ वा इन्हें सिद्धांत के अनुसार सम्पादित करने वाला व्यक्ति पाप या पुण्य की दृष्टि से कर्म करता हुआ जन्म मृत्यु के चक्कर में घूमता रहता है।

शास्त्र में कर्म के तीन प्रकार के बताए गए हैं :

त्रिविधो विधिकूटः स्यान्नित्यनैमित्तिकाम्यतः।
नित्येऽकृते किल्बिषं स्यात्काम्ये नैमित्तिके फलम्।।[2]

अर्थात् 1. नित्यकर्म 2. नैमित्तिक कर्म और 3. काम्यकर्म।

1. **नित्यकर्म**- जिसके न करने से पाप लगता है जैसे- स्नान, संध्यावंदन आदि।

2. **नैमित्तिक**- निमित्त उपस्थित होने पर किए जाने वाले कर्म नैमित्तक कर्म कहलाते हैं; जैसे जातेष्टि इत्यादि।

3. **काम्यकर्म**- किसी कामना से किया गया कार्य होता है; जैसे ज्योतिष्टोम, राजसूय यज्ञ इत्यादि। नैमित्तिक और काम्य कर्म- दोनों से फल की प्राप्ति होती है; स्वर्ग और नरक की प्राप्ति होती है। ऐहिक और पारलौकिक सुखों के अनिच्छुक साधक को इन सभी काम्य, नित्य और नैमित्तिक कर्मों का त्याग कर ज्ञान मार्ग का आश्रय लेना चाहिए।

यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम्।
तस्मिन्परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम्।।[3]

1. शिवसंहिता 1/1
2. वहीं 1/22
3. वहीं 1/18

निश्चय जिसके जानने से सब संसार जाना जाता है, ऐसे योगशास्त्र के जानने में परिश्रम करना अवश्य उचित है। फिर अन्य शास्त्र जो कहे हैं उनका क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं। तात्पर्य यह है कि पंडित लोग वृथा विवाद करके जो लोग सुमार्ग में जाने की इच्छा करते हैं, उनको भी भ्रष्ट कर देते हैं।

ज्ञानकांड

ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्याप्यं समन्ततः।
एकोऽस्ति सच्चिदानन्दः पूर्णो द्वैतविवर्जितः॥[1]

ब्रह्मा आदि सब जगत् में वही एक ईश्वर परिपूर्ण व्याप्त है। वह एक सच्चिदानन्दपरिपूर्ण द्वैतरहित है; अर्थात् दूसरा कुछ नहीं है। यह संपूर्ण जगत् मुझसे ही उत्पन्न होता है और मुझ में ही लीन हो जाता है मैं जगत से भिन्न नहीं हूँ और ना ही मुझ से भिन्न है। इस प्रकार के अभेद ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है। दु:ख की निवृत्ति ज्ञानकांड से होती है। योगी व्यक्ति पाप-पुण्य का त्याग करके ज्ञानमार्ग का आश्रय करे।

अध्यास और अध्यारोप

जो वस्तु जैसी नहीं है उसे वैसा मानना जैसे-

सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ शुक्तौ वा रजतभ्रमः।
तद्वदेवमिदं विश्वं विवृतं परमात्मनि।
रज्जुज्ञानाद्यथा सर्पो मिथ्यारूपो निवर्तते॥[2]

रस्सी में सर्प, शुक्ति (सीपी) में रजत, पीलियायुक्त व्यक्ति को सब कुछ पीला दिखाई देना... इसी प्रकार ब्रह्म में जगत का दिखाई देना। जिस प्रकार एक सूर्य जल से भरे हुए अनगिनत घटों के कारण अनेक दिखाई देते हैं। उसी प्रकार एक ब्रह्म, इंद्रियों की उपाधि के कारण अनेक दिखाई देते हैं। यह सृष्टि स्वाभाविक रूप से मिथ्या है। पर काल्पनिक रूप से सत्य है। इस कल्पना के हटने पर केवल भ्रम शेष रहता है।

1. शिव संहिता 1/56
2. वहीं 1/38-39

अपवाद

आत्मज्ञानात्तथा याति मिथ्याभूतमिदं जगत्।
रौप्यभ्रान्तिरियं याति शक्तिज्ञानाद्यथा खलु।।[1]

अपवाद अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उसे वैसे ही जानना। जिस प्रकार रस्सी को रस्सी रूप में जाने पर सिर्फ अज्ञान हट जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म को ब्रह्म रूप में जानने से जगत्रूपी मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। संपूर्ण जगत चैतन्य ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है, वह इसके अंदर और बाहर सब जगह व्यापक है। आत्मा ब्रह्म प्रकाश सच्चिदानंद अद्वैत आनंद स्वरूप ज्ञान स्वरूप एवं पूर्ण है। यह जगत् माया के कारण ही उत्पन्न है। माया ही विश्व जननी, माया के विनाश हो जाते ही जगत् का अस्तित्व नहीं रहता है।

संसार के तीन प्रकार- **१. शत्रु २. मित्र ३. उदासीन।**

अरिमित्रमुदासीनस्त्रिविधं स्यादिदं जगत्।
व्यवहारेषु निश्चयं दृश्यते नान्यथा पुनः।।[2]

शत्रु, मित्र और उदासीनता- यही तीन प्रकार के व्यवहार का प्रवाह इस संसार में निश्चय देखने को मिलता है; अर्थात् संसार तीन प्रकार का है।

सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम-

न खं वायुर्न चाग्निश्च न जलं पृथिवी न च।
नैतत्कार्यं नेश्वरादि पूर्णैकात्मा भवेत्खलु।।[3]

शुद्ध ब्रह्म का संयोग जब माया (अविद्या) के साथ होता है, तब सृजन प्रारंभ होता है। ऐसे ब्रह्म के तेज अंश से आकाश प्रकट होता है। इसी प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी क्रम से पहले वाले से बाद वाला उत्पन्न होता है और माया के हटने के बाद वाला पहले वाले में लीन हो जाता है।

---

1. शिव संहिता 1/40
2. वहीं 1/70
3. वहीं 1/64

मूल तत्त्व	**मूल गुण**	**कुल गुण**	**गुणग्राहक इंद्रिय**
आकाश	शब्द	शब्द	श्रवण
वायु	स्पर्श	शब्द, स्पर्श	त्वक्
अग्नि	रूप	शब्द, स्पर्श, रूप	चक्षु
जल	रस	शब्द, स्पर्श, रूप, रस	रसना (जिह्वा)
पृथिवी	गंध	शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध	घ्राण (नासिका)

1. आवरण– इस शक्ति के द्वारा माया ब्रह्म के विशिष्ट रूप को आच्छादित कर देती है।

2. विक्षेप– इस शक्ति के द्वारा माया ब्रह्म को जगत् रूप में प्रदर्शित करती है।

पिता के अन्नमयकोश से पूर्वजन्मकृत कर्म के अनुसार शरीर की उत्पत्ति और यह शरीर पूर्वकृत कर्म के भोग हेतु दुख रूप है। बिंदु (वीर्य) को शिव कहा गयी को रज को शक्ति। इन दोनों के संयोग से मिथ्याभूत सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

द्वितीय पटल : तत्त्वज्ञानोपदेश

इस शरीर में सात दीपों से युक्त मेरु पर्वत अर्थात मेरुदण्ड स्थित है। इसमें नदियाँ, समुद्र, पर्वत, नक्षत्र, पवित्र तीर्थ, चंद्र, सूर्य और पांचों तत्त्व इत्यादि पदार्थ विद्यमान हैं। इस शरीर के मेरुदंड के शिखर पर 16 कलाओं से युक्त चंद्रमा विराजमान है। उसके द्वारा स्त्रावित अमृत दो भागों में विभक्त होकर बहता है। चंद्रमा द्वारा स्त्रावित अमृत का प्रवाह, शरीर के पोषण हेतु– इड़ा मार्ग से सृजन के लिए– सुषुम्ना मार्ग से मेरुदंड के मूल में 12 कलाओं से युक्त सूर्य रहता है; जिसकी किरणें दक्षिणमार्ग (पिंगला) से प्रवाहित होती है तथा जो चंद्रमा से निःसृत अमृत और धातुओं को ग्रस लेता है। इस प्रकार चन्द्रमा सृष्टिकर्त्ता और सूर्य संहारकर्त्ता कहलाता है।

नाडीतन्त्र

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम्।
प्रधानभूताः नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश।।[1]

मानव शरीर में 3.5 लाख नाड़ियाँ हैं। इनमें चौदह नाड़ियाँ मुख्य हैं। चौदह में इडा, पिंगला और सुषुम्ना- ये तीन मुख्य है और तीनों में एकमात्र सुषुम्ना प्रमुख है।

सुषुम्णेडा पिङ्गला च गान्धारी हस्तिजिह्विका।
कुहू सरस्वती पूषा शङ्खिनी च पयस्विनी।
वारुण्यलम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडासुषुम्णिकाः।[2]

चौदह नाड़ियाँ

नाड़ियाँ	**स्थान**
सुषुम्ना	इडा और पिंगला के मध्य
इडा	बायीं नासिका
पिंगला	दायीं नासिका
गान्धारी	अन्य नाडियों के विभिन्न स्थान
हस्तिजिह्विका	जिह्वा
कुहू	लिंग
सरस्वती	नेत्र
पूषा	दोनों पैरो का अँगूठा
शंखिनी	हाथ का अंगूठा
पयस्विनी	कान
वारुणी	काख
अलम्बुसा	गुदा

1. शिव सहिंता 2/13
2. शिव संहिता 2/14,15

विश्वोदरी पेट

यशस्विनी

सुषुम्ना नाडी के छः स्थानों पर छः चक्र और छः शक्तियां अवस्थित है। ये सभी नाड़ियाँ मेरुदंड का आश्रय लेकर स्थित हैं। सुषुम्ना के मध्य चित्रा नाड़ी है; जो शिवजी को बहुत प्रिय है।

चित्रा नाड़ी

पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णा मध्यचारिणी।
देहस्योपाधिरूपा सा सुषुम्णा मध्यरूपिणी॥[1]

पाँच वर्णों से युक्त, उज्ज्वल, पवित्र और सुषुम्ना के मध्य विचरण करने वाली है। इसके ध्यानमात्र से महापाप नष्ट हो जाते हैं।

कुण्डली एवं कंद

गुदात्तु द्वयंङगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्वयंङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारमाधारं वर्त्तते समम्॥

तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना।
त्रिकोषा वर्त्तते योनिः सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥[2]

गुदाप्रदेश से दो अंगुल ऊपर और मेढ़ू (लिंग) से दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तार वाला मूलाधार चक्र स्थित है। उस कमल में त्रिकोण आकार वाली योनि है जिसमें साढ़े तीन लपेटे लगाये हुए सुषुम्ना के मार्ग में कुण्डली अवस्थित है।

वैश्वानर अग्नि की विशेषतायें

सूर्यमण्डलमध्यस्थः कलाद्वादशसंयुतः।
वस्तिदेशे ज्वलद्वह्निर्वर्त्तते चान्नपाचकः॥[3]

---

1. शिव सहिंता 2/19
2. शिव सहिंता 2/20,21
3. शिव सहिंता 2/33

वस्तिप्रदेश (मेरुमूल) में बारह कलाओं से युक्त वैश्वानर नामक अन्नपाचक अग्नि विद्यमान है; जो विविध प्रकार का पाक कर्म करती है। जिसका फल इस प्रकार है :

आयु:प्रदायको वह्निः बलं पुष्टिं ददाति सः।
शरीरपाटवं चापि ध्वस्तरोगसमुद्भवः॥[1]

रोगों की उत्पत्ति को नष्ट करने वाली, बलपुष्टिकारक, आयुप्रदायक, शारीरिक-स्फूर्ति-प्रदायक, दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति और प्राणियों द्वारा फल का भोग कर्म के अनुसार ही होता है। जगत् का भ्रम सामान्य दृष्टि (भेद दृष्टि) के कारण होता है और विशेष दृष्टि (अभेद दृष्टि) ज्ञान का कारण है। संसार-सागर को पार करने की इच्छा वाले योगी को फलासक्ति को छोड़कर वर्णाश्रम कर्तव्यों का पालन करना चाहिये।

कर्मफल :-

नानाविधगुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः।
पूर्वार्जितानि कर्माणि भुनक्ति विविधानि च॥[2]

अनेक ज्ञान आदि गुणों से युक्त सब प्रकार के कर्मों को करने वाला यह जीव पूर्वजन्मों में किये गये अनेक प्रकार के पाप-पुण्यमय कर्मों के फल को जन्म पाकर भोगता रहता है। अर्थात् संसार में हम जो सुख-दु:ख देखते हैं, स्वयं अनुभव करते हैं और दूसरों को सुखी और दु:खी देखते हैं; वह सब व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्मों के फलस्वरूप ही है। यहाँ जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी अपने किये गये कर्मों के अनुसार ही सुख-दु:ख-रूपी भोगों को भोगता है।

तृतीय पटल : प्राणोपदेश

प्राण का स्थान :

हृद्यस्ति पङ्कजं दिव्यं दिव्यलिङ्गेन भूषितम्।
कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशार्णविभूषितम्॥[3]

1. शिव सहिंता 2/35
2. शिव सहिंता 2/40
3. शिव सहिंता 3/1

प्राण के स्थान के विषय में बताते हुए कहते हैं कि मानव के हृदय में 12 दलों वाला सुंदर कमल है; जिसे अनाहत चक्र कहते हैं। वह दिव्य चिह्नों से युक्त है। उसमें बारह पंखुड़ियों पर क्रमशः क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ वर्ण अंकित होकर उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। प्राण उसी हृदयकमल में निवास करता है।

प्राणोऽपानः समानश्चोदानोव्यानश्च पञ्चमः।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः॥

दशनामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके।
कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः॥[1]

प्राण का विवेचन करते हुए कहते हैं कि की 10 प्राणों में 5 प्राण हैं और पाँच उपप्राण है। कार्य के आधार पर प्राण के अनेक नाम है। प्राण पाँच : 1. प्राण– हृदय 2. अपान– गुदा 3. समान–नाभि 4. उदान–कंठ 5 . व्यान– समस्त शरीर। उपप्राण भी पाँच है; जैसे 1. नाग। डकार 2. कूर्म– पलक झपकना 3. कृकल– भूख–प्यास 4. देवदत्त– जम्भाई 5. धनंजय– हिचकी।

गुरु की महत्ता

योगोपदेशं सम्प्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम्।
गुरूपदिष्टविधिना धिया निश्चित्य साधयेत्॥[2]

गुरुं सन्तोष्य यत्नेन यो वै विद्यामुपासते।
अविलम्बेन विद्यायास्तस्याश्च फलमाप्नुयात्॥[3]

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते॥

गुरुमुख से निःसृत विद्या प्रभावशालिनी होती है, बिना गुरुमुख के फलहीन, निर्वीर्या और अतिदुःख देने वाली होती है। गुरु को पूर्ण प्रसन्न

1. शिव संहिता 3/4,5
2. वहीं 3/21
3. वहीं 3/12,13

करके विद्याभ्यास करने पर वह विद्या शीघ्र फलदायिनी होती है। गुरु पिता, माता और ईश्वर है; उसकी कर्म, मन और वाणी से सेवा करनी चाहिये।

गुरु नमस्कार की प्रक्रिया- गुरु के चरणों को दाहिने हाथ से स्पर्श करके तीन बार परिक्रमा करके साष्टांग प्रणाम करना चाहिये।

सिद्धि के लक्षण

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्।
द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम्॥
चतुर्थं समताभावं पञ्चमेन्द्रियनिग्रहम्।
षष्ठं प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते॥[1]

साधना में सिद्धि के छः लक्षण हैं। इनमें प्रथम है- सफलता प्राप्त करने का विश्वास, द्वितीय है- साधना विधि पर विश्वास, तृतीय है- श्रद्धापूर्वक पूजा की प्रवृत्ति, चतुर्थ है- समता की भावना, पाँचवा है- इन्द्रिय निग्रह और छठा है- सीमित मात्रा में आहार लेने की प्रवृत्ति इनके अतिरिक्त सातवाँ कोई लक्षण नहीं है।

प्रणायाम/कुंभक

इडया रेचयेद् वायुं न वेगेन शनैः शनैः।
इदं योगविधानेन कुर्याद् विंशति कुम्भकान्॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः॥[2]

शिव संहिता में प्राणायाम के बारे में चर्चा करते हुए कहा गया है कि सुंदर व स्वच्छ कुटीर बना करके उसके अंदर पद्मासन में बैठें। उसके बाद पूरक, कुंभक और रेचक का अभ्यास करते हुए प्राणायाम करें और 20 बार प्राणायाम कर सकते हैं।

---

1. शिव संहिता 3/19,20
2. वहीं 3/26

समय

प्रातः काले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्धरात्रके।
कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान्॥[1]

दिन में चार समय अर्थात् प्रातः मध्याह्न, सायं और अर्धरात्रि–प्रत्येक समय में 20 बार करते हुए धीरे–धीरे कुंभकों की संख्या को 80 तक ले जाया जा सकता है। प्राणायाम करने से तीन स्थितियां उत्पन्न होती हैं; प्रथम, मध्यम और उत्तम। प्रथम अवस्था में पसीना निकलना, दूसरी अवस्था में कंपन होना और तीसरी अवस्था में योगी अपने आसन से ऊपर उठ जाना; अर्थात् पद्मासन या किसी आसन बैठे हैं, तो उसमें धरती से ऊपर उठ जाएंगे। इस प्रकार अभ्यास करने से 3 मास में या उसके कुछ अधिक समय में सभी नाड़ियाँ निर्मल एवं शुद्ध हो जाती हैं। जिस व्यक्ति की नाड़ियां शुभ हो जाती हैं, उसके शरीर के सभी दोष नष्ट हो जाते है।

नाड़ी शुद्धि के लक्षण :

शरीर संतुलित रहता है, शरीर से सुगंध आती है, सुकांति होती है और स्वर में मधुरता जाती है :

यदा तु नाडी शुद्धिः स्याद् योगिनस्तत्त्वदर्शिनः।
तदा विध्वस्तदोषश्च भवेदारम्भसम्भवः॥[2]

जब तत्त्वज्ञानी योगी की नाड़ी शुद्धि हो जाती है, सभी दोष नष्ट हो जाते हैं; तब योगसाधना की आरम्भ अवस्था हो जाती है।

चिह्नानि योगिनो देहे दृश्यन्ते नाडिशुद्धतः।
कथ्यन्ते तु समस्तान्यङ्गानि संक्षेपतो मया॥
समकायः सुगन्धिश्च सुकान्तिः स्वरसाधकः॥[3]

---

1. शिवसंहिता 2/27
2. वहीं 2/29
3. वहीं 2/30,31

उपर्युक्त प्राणायाम साधना के फलस्वरूप योगी के शरीर में जो चिह्न प्रकट होते हैं; वे हैं : शरीर का समकाय अर्थात् सन्तुलित होना, शरीर से सुगन्ध निकलना शरीर का कान्तिमान होना और स्वर की सुस्पष्टता और मधुरता।

पथ्य और अपथ्य

पथ्य और अपथ्य की चर्चा भी प्राप्त होती है। पथ्य अर्थात् जो भोजन बहुत योग्य है। जैसे ही दूध, मिष्ठान, चूनारहित पान, स्निग्ध वस्तुएँ, कपूर इत्यादि। अपथ्य अर्थात् जो खाने योग्य नहीं है; जैसे अम्लतिक्त, लवण, रुक्ष, कटु आदि वस्तुएँ।

कर्म की चर्चा भी करते हुए कहते हैं कि दो प्रकार के कर्म हैं: करणीय कर्म और त्याज्य कर्म। करणीय कर्म कौन-कौन से हैं? उसकी चर्चा करते हैं : प्रतिदिन शास्त्रों का श्रवण करना, वैराग्य पूर्ण गृहस्थ सेवन, विष्णु-नाम-कीर्तन, नाद-श्रवण, गुरु की सेवा, धैर्य, क्षमा, तप, शौच, लज्जा, सूर्य नाड़ी में प्राण चलने पर भोजन करना, चंद्र नाड़ी में प्राण चलने तक सोना, सात्त्विक बुद्धि रखना आदि कार्य करने योग्य होते हैं। त्याग करने योग्य कार्य : अधिक घूमना, चोरी, मोह, हिंसा, असत्य, स्त्रीसंग, अधिक वार्तालाप, अधिक भोजन, अग्नि सेवन, अहंकार, कुटिलता, उपवास, आदित्यादि करने योग्य कर्म हैं। साधना के प्रारंभ में दूध और घी का सेवन करना चाहिए। अभ्यास दृढ़ होने पर नियम आग्रह की आवश्यकता नहीं है। योगाभ्यासी को थोड़ा-थोड़ा करके अनेक बार भोजन करना चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करते हुए तीन घड़ी अर्थात् 72 मिनट तक कुंभक सिद्ध होने पर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं; जैसे वाक्सिद्धि, यथेच्छ विचरण, दूरदृष्टि, दूरश्रुति, सूक्ष्मदृष्टि, परकायाप्रवेश के लेपन से स्वर्ण उत्पन्न करना, मलमूत्र अदृश्य होना, आकाशगमन इत्यादि।

योग की चार अवस्थाएँ-

आरम्भो घटकश्चैव यथा परिचयस्तदा।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्थाः भवन्ति ताः॥[1]

आरम्भावस्था :- नाड़ी शुद्ध होने पर शरीर के सभी दोषों का नष्ट होना इत्यादि नाड़ीशुद्धि के तुल्य लाभ इसके भी है।

घटावस्था :- जब प्राण अपान, नाद बिंदु और जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता स्थापित होती हो। लाभ-संसार में सब कुछ सिद्ध कर सकता है।

परिचयावस्था :- इस अवस्था की प्राप्ति होती है, जब प्राणायाम के अभ्यास से प्राण वायु इड़ा और पिंगला को त्यागकर सुषुम्ना में स्थिर हो जाती है। इससे तीनों कर्मबन्धों (प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण) का ज्ञान प्राप्त होता हैं।

निष्पत्ति अवस्था :- पाँच प्रकार की धारणाओं का अभ्यास करने से शनैः शनैः यह अवस्था प्राप्त होती है।

पाँच धारणाओं का स्थान : मूलाधार, लिंग, नाभि, हृदय, भ्रूमध्य होता है। प्रत्येक पर ध्यान का समय 5 घड़ी = 2 घंटे है तथा लाभ हैं : अमृतत्व की प्राप्ति, जीवनमुक्त- समाधि आदि।

प्राणायाम (वायुसाधना) विवेचन

कुम्भक की पूर्णता का समय : तीन घण्टे

जिह्वा को तालुमूल में दृढता से लगाकर प्राणवायु का पान करने से सभी रोग नष्ट होते हैं। होठों को कौवे की चोंच के समान बनाकर शीतल वायु का पान करने से साधक मुक्ति का पात्र बन जाता है। प्रतिदिन सरस वायु का पान करने से श्रमजन्य दाहकता, जरा और रोग नष्ट होते हैं। जिह्वा को ऊपर की ओर करके चन्द्रमा से स्त्रावित जल का पान करने से एक मास में मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। क्षयरोग को

---

1. 2/32

दूर करने के लिये दोनों समय (प्रातः और सायं) कुण्डलिनी मुख पर ध्यान करते हुए काकीमुद्रा द्वारा वायु का पान करे। काकीमुद्रा द्वारा दिन-रात वायु का पान करने से दूरश्रुति और दूरदृष्टि प्राप्त होती है। दांतों के द्वारा दांतों को दबाकर जिह्वा को ऊपर की ओर करके धीरे धीरे वायु का पान करने से शीघ्र ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। इन सभी प्राणायामों का छः मास तक अभ्यास करने से सभी पाप और रोगों से मुक्ति मिलती है। एक वर्ष तक करने से निश्चित रूप मृत्यु पर विजय। तीन वर्ष तक करने से अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति और भूतगणों पर विजय प्राप्त होती हैं।

आसन

चतुरसीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम्।
सिद्धासनं तथा पद्मासनं चोग्रञ्च स्वस्तिकम्।।[1]

इसमें 84 आसनों का उल्लेख है। जिनमें चार आसन मुख्य है : सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन (पश्चिमोत्तानासन) तथा स्वस्तिकासन।

चतुर्थ पटल :

मुद्रायोग

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्त्तते।।[2]

योनिमुद्रा : गुदा और लिङ्ग के बीच के योनि स्थान को आकुञ्चित करके पूरक करते हुए मूलाधार में मन को प्रवर्तित करे। उसके अन्दर स्थित जो कामपीठ, उसके ऊपर विद्यमान ज्ञानमयी ज्योति का आत्मा के साथ तादात्म्य करके ध्यान करे। यह परमानन्द का सूचक स्वर्ग स्थान है, जहाँ से अमृतधारा स्रावित होती रहती है। ऐसा करने वाला

---

1. 3/100
2. 4/1

व्यक्ति संसार में सब प्राप्त कर सकता है। वह महापाप के फल का भी भागी नहीं बनता है।

योगसिद्धि का उपाय :

अभ्यास से ही सफलता प्राप्त होती है। अभ्यास से ही व्यक्ति मोक्ष, ज्ञान, योग, मुद्राओं की सिद्धि प्राणायाम की सिद्धि और मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है।

मुद्रायोग :

ब्रह्मद्वार पर सोई हुई कुण्डलिनी को जगाने के लिये प्रयत्नपूर्वक मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिये। महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, जालंधर, मूलबंध, विपरीतकरणी, उड्डयान आदि मुद्राएँ हैं। वज्रोली के भेद : 1. सहज्रोली, 2. अमरोली, शक्तिचालिनी आदि।

पंचम पटल :

शृणु देवि! प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा।
मुक्तिम्प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः। 5/2

विघ्न विवेचन : भगवान् शिव का मानना है मनुष्य की मुक्ति के मार्ग में भोग ही सबसे बड़ी बाधा है। इन भोगों से हमे मुक्त होना चाहिए।

भोगरूपी विघ्न : स्त्री का संग, शय्या, आसन, वस्त्र, धन, ताम्बूल, सवारी, भक्षण, राजकीय, ऐश्वर्य, भोग, सोना, चाँदी, ताँबा, रत्न, सुगंधित द्रव्य, गौ, वेदशास्त्रों में पाण्डित्य, नृत्य, संगीत, आभूषण, बाँसुरी, वीणावादन, पत्नी, संतान इत्यादि सांसारिक विषय धर्म रुपी विघ्न हैं। स्नान, हवन, पूजाविधि, व्रत, उपवास, मौन का आवलंबन, इंद्रियों का नियंत्रण, ध्यान, मंत्र, दान, प्रसिद्धि, कुआँ, तालाब इत्यादि का यथोचित उपयोग करना चाहिए।

ज्ञानरूपी विघ्न– गोमुखादि आसन करने के बाद धौतिप्रक्षालन करने से नाडियों के प्रवाह का ज्ञान और प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों का

निग्रह होता है। साधु-सन्तों की संगति, दुर्जनों से बचना, इत्यादि।

योग साधक के प्रकार : 1. मृदु 2. मध्य 3. अधिमात्रक 4. अधिमात्रतम।

मृदु की विशेषताएँ

अतिमूढ, रोगी, गुरुनिंदक, लोभी, पापबुद्धि, अधिक भोजन करने वाला, स्त्री के वशीभूत, दीन, रोगग्रस्त, पराधीन, अस्थिर, अत्यन्त क्रूर, मन्दाचार, मन्दबुद्धि, 12 वर्ष के अभ्यास से मन्त्रयोग का अधिकारी होता है।

मध्य की विशेषताएँ :

समबुद्धि, क्षमाशील, प्रिय बोलने, वाला, पुण्यार्थी, सब कार्यों में सामान्य, गुरु इसे लययोग का उपदेश करे (इसमें समय का उल्लेख नहीं किया गया है। पर पूर्वापर देखने पर अभ्यास के लिये 9 वर्ष का समय लगता है।

अधिमात्रक की विशेषताएँ :

योगाभ्यासी स्थिरबुद्धि, लययुक्त, स्वाधीन, वीर्यवान, महाशय, सत्यवादी, दयावान, क्षमाशील, शूरवीर, अनुभवी, श्रद्धावान्, गुरुचरणपूजक, योगाभ्यासरत होता है। उसके वर्ष के सफल अभ्यास के बाद गुरु हठयोग का उपदेश करे।

अधिमात्रतम की विशेषताएँ :

महावीर्यवान्, उत्साही, रूपवान्, शास्त्रों का ज्ञाता, शौर्यवान, अभ्यासशील, मोहरहित, नवयौवन से युक्त, मिताहारी, जितेन्द्रिय, निर्भय, पवित्र, दक्ष, सर्वाश्रय दाता, अविकारी, बुद्धिमान्, धर्मचारी, अरोगी, जनसंग त्यागी, 3 वर्ष में सभी योगों में सफलता।

प्रतीकोपासना

प्रगाढ़ धूप में दोनों नेत्रों को अच्छी तरह खोलकर अपने प्रतिबिम्ब

स्वरूप ईश्वर को देखकर जब आकाश की ओर देखता है, तब उसी क्षण आकाश में उसे अपना प्रतीक दिखाई देने लगता है।

लाभ- आयु में वृद्धि, मृत्यु पर विजय परमात्मा की प्राप्ति।

यात्राकाल में, विवाह में, शुभकर्म में, संकट में, पापक्षय होने पर और पुण्यवृद्धि होने पर भी प्रतीकोपासना करनी चाहिये।

नाद- दोनों कानों को हाथ के अंगुठों से, तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमा से नासाछिद्रों को और अनामिका से मुख को बन्द कर वायु को अच्छी प्रकार से नियंत्रित करने से योगी ज्योतिरूप आत्मा का साक्षात्कार करता है। इस अभ्यास से योगी के अन्दर नाद की क्रमिक उत्पत्ति होती है। नाद का क्रम, वीणा, भ्रमर, वेणु (बांसुरी) घण्टानाद, मेघगर्जना उस नाद पर निर्भयरूप से मन को एकाग्र करने पर मेरे अत्यन्त प्रिय लय की सिद्धि होती है।

श्रेष्ठता के विषय मे बताते हुए कहते हैं कि आसनों में सर्वश्रेष्ठ-सिद्धासन, प्राणायाम में सर्वश्रेष्ठ-कुम्भक, मुद्राओं में सर्वश्रेष्ठ-खेचरी, लय में सर्वश्रेष्ठ- नाद है।

योग की विधियाँ : जनसम्पर्क का त्यागकर पद्मासन में स्थित होकर इडा और पिंगला का ज्ञान प्राप्त करके प्रणायम का अंगुलीयों से उनका निरोध करना चाहिए। इस प्रकार करने से अनेकों लाभ प्राप्त होंगे। जैसे निराकार आत्मा का साक्षात्कार, वायु की सुषुम्ना में प्रविष्टि, वायुसिद्धि, अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति, देवताओं द्वारा पूजित पापसमूह नष्ट, जिह्वा को तालुमूल में लगाकर कण्ठकूप का स्मरण करता हुआ पद्मासन में बैठे।

अन्न से उत्पन्न रस की स्थिति : चार प्रकार का अन्न होता है 1. चर्व्य, 2. पेय, 3. लेह्य, 4. चोष्य। उनसे उत्पन्न अन्न रस तीन भागों में विभाजित होता है-

1. **रस का प्रथम भाग :** 1. सारभूत भाग-लिंग (कारण) शरीर का पोषण।

2. **रस का दूसरा भाग :** सात धातुओं से निर्मित शरीर का पोषण करता है।

3. **रस का तीसरा भाग :** मल- मूत्र के रूप में सात प्रकार से बाहर निकलता है।

प्रथम दो रस को नाडी भी कहा गया है; जो पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त वायु का पोषण करती है। इन नाडियों द्वारा वायु का संचार होने पर ही अन्नरस इस शरीर में समभाव से प्रवर्तित होता है। इस कार्य में चौदह नाड़ियों की प्रमुखता मानी गई है; जो कार्य करने में समान सामर्थ्य वाली है।

कुण्डलिनी विवेचन :

गुदा से दो अंगुल उपर और लिंग से एक अंगुल नीचे चार अंगुल परिधि वाला समकोण कन्द है। उसमें ही कुण्डलिनी का वास है। वह सभी नाडियों को घेरकर सुषुम्ना के मुख में पूंछ डालकर साढे तीन फेरे लगाकर स्थित है। वह सत्व, रजस् और तमस् गुणों को जन्म देने वाली है। उस कुण्डलिनी के अन्तर्गत स्थूक पुष्प के समान लाल रंग वाला कामबीज विद्यमान है। कुंडलिनी, सुषुम्ना और काम बीज को मिलाकर त्रिपुरभैरवी देवी कहा जाता है।

मूलाधार चक्र : गुदाद्वार स्थान है, वर्ण स्वर्णाभा है और दल चार है।

स्वाधिष्ठान : इस चक्र का स्थान लिंगमूल है, वर्ण लाल है, 6 कमल दल है।

मणिपुर : मणिपुर चक्र नाभि में स्थित है। इसका वर्णन स्वर्ण हैं; जिसमें 10 पँखुड़ियां हैं।

अनाहत : अनाहत चक्र का स्थान हृदय है; जिसमें 12 पंखुड़ियां हैं।

विशुद्धि : विशुद्धि चक्र का स्थान कण्ठ है, वर्ण स्वर्णकार है; जिसमें 16 पँखुड़िया हैं।

आज्ञाचक्र : इसका स्थान भ्रूमध्य है, आज्ञाचक्र का वैशिष्ट्य– आज्ञाचक्र के ऊपरी भाग में तीन पीठस्थान बताये गए हैं। जिनके नाम हैं : 1. बिन्दु 2. नाद फल 3. शक्ति।

प्रथम पाँच चक्रों पर ध्यान लगाने से प्राप्त लाभ केवल आज्ञाचक्र के ध्यान से ही प्राप्त हो जाते हैं। सभी पाप नष्ट हो जाते है। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सराएँ इत्यादि सब उसकी सेवा करते हैं। आज्ञाचक्र पर ध्यान करते हुए मृत्यु होने पर परमात्मा में लीन हो जाता है। राजयोग का अधिकारी बन कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

सुषुम्ना के मध्य में चित्रा नाडी स्थित है, उसी में ही ब्रह्मरन्ध्र की कल्पना करनी चाहिये। इस नाडी के स्मरण मात्र से ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति, पापों का नाश और मुक्ति हो जाती है।

त्रिवेणी संग :

ब्रह्मरन्ध्र के मुख पर इडा (गंगा), पिंगला (यमुना) और सरस्वती (सुषुम्ना) का संगम होता है। उस संगम में स्नान करने से परमगति प्राप्त होती है। इसे ही त्रिवेणी संगम कहा जाता है।

त्रिवेणी संगम पर ध्यान करने के लाभ : सभी पितरों को तारकर परमगति को प्राप्त करता है। मानसिकरूप से संगम का ध्यान करते हुए सभी कर्मों का अनुष्ठान करने पर वह अक्षय फल प्राप्त करता है। अपवित्र साधक भी संगम में स्नान करने पर पवित्र हो जाता है। शिर के कपालविवर में सोलह कलाओं से युक्त निरंजन परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

लाभ : इस प्रकार तीन दिन तक अभ्यास करने पर परम तत्व का दर्शन हो जाता है; जिसके दर्शनमात्र से से ही सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। भावी विषयों का ज्ञान, चित्त की शुद्धि और पांच प्रकार के महापाप नष्ट हो जाते हैं सभी ग्रह अनुकूल, उपद्रव नष्ट, बाधाएँ शांत और युद्ध में विजय प्राप्त होती है।

सहस्त्रार कमल :

तालु के ऊपर ब्रह्माण्ड रूपी देह से परे सहस्त्रार कमल विद्यमान

है। इसे ही कैलास कहा जाता है; जहाँ अकुल अविनाशी महेश निवास करते हैं।

लाभ : इसके ज्ञानमात्र से पुनर्जन्म नहीं होता, आधि और व्याधि नष्ट होकर चिर काल तक जीवित रहता है। जगत् की विस्मृति होना विचित्र सामर्थ्य की प्राप्ति है।

राजाधिराजयोग :

जन्तु से रहित स्थान पर गुरु का पूजन करके स्वस्तिकासन लगाकर, वेदान्त की युक्तियों से परमात्मा को जानकर मन को निरालम्ब करके ध्यान करे।

लाभ : अहं की भावना नष्ट हो जाती है। सभी इच्छाओं से रहित हो जाता है। जगत् विलीन होकर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः निष्पत्ति अवस्था पर्यन्त दोनों का अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास के परिपक्व होने तक मिताहार की शरण अत्यावश्यक है अन्यथा साधना में सफलता नहीं हो सकती। वार्तालाप और जनसंग का त्याग किये बिना मुक्ति सम्भव नहीं है।

मन्त्रयोग- विधिवत् गुरु को प्रसन्न करके उत्तम मन्त्र के अभ्यास से मन्दभाग्य व्यक्ति को भी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

गोरक्षसंहिता में योग का स्वरूप

गोरक्ष संहिता हठयोग का मुख्य ग्रंथ है इस मे सर्वप्रथम गुरु की वंदना की गई है-

श्री गुरु परमानन्दं वन्दे स्वानन्द विग्रहम्।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः॥[1]

परमानन्द में रमण करने वाले जो स्वानन्द विग्रह स्वरूप हैं और जिनके सान्निध्य मात्र से यह शरीर चिदानन्द का स्थान बन जाता है। उस श्रीगुरु की मैं वन्दना करता हूं।

1. गोरक्ष संहिता 1/1

महायोगी गोरक्षनाथ को मुमुक्षुओं के समुदाय में योगविद्या के परमवेत्ता एवं आचार्य एवं गुरु के नाम से जाना जाता है। गोरक्षनाथ के गुरु हठयोग के आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। इन्ही से योगविद्या मे शिक्षित और दीक्षित हुए थे।

भगवान श्री आदिनाथ शिवजी के मुखारविन्द से प्रकट हुए योग-विषयक उपदेशों को मत्स्येन्द्रनाथ ने ही प्रथम सुना था। आदिनाथ से ही नाथ सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ और मत्स्य देहधारी मत्स्येन्द्रनाथ उसे सुनकर परम सिद्ध योगी हुए। मत्स्येन्द्रनाथ के पश्चात् उनके शिष्य गोरक्षनाथ भी हठ योग के आचार्य हुए उन्होंने अपने गुरुदेव से प्राप्त असंख्य श्लोकों में से कुछ श्लोकों का चयन कर 'गोरक्ष संहिता' नामक पुस्तक का निर्माण किया। यह ग्रंथ दो शतकों मे विभाजित है दोनों शतकों मे 100-100 श्लोक हैं अर्थात् कुल 200 श्लोक हैं। इसका रचनाकाल 10 वीं शताब्दी माना गया है। इस मे षडांग योग की चर्चा की गई है।

गोरख संहिताः- प्रथम शतक

योग- ज्ञान का प्रारम्भ, संहिता-बोध का फल कथन, मन का संयम, श्रुति- सेवन का फल, भवताप का शमन, आसनों का वर्णन, सिद्धासन, पद्मासन शरीर के उनतीस अवयव का वर्णन किया है। गुरु गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य, पाँच आकाश, एक स्तम्भ, नौ द्वार और पाँच अधिदेवताओं वाली देह को जो योगी नहीं जानते उन्हें योग सिद्धि नहीं मिल सकती हैं।

गुरु गोरक्षनाथ ने योग के छः अंगों का वर्णन किया है-

आसनं प्राण संरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वदन्ति षट्॥[1]

षडांग योग

1. आसन 4. धारणा

---

1. गोरक्ष संहिता 1/6

2. प्राणायाम 5. ध्यान

3. प्रत्याहार 6. समाधि

इस दुनिया मे जितने जीव जन्तु हैं उतने ही आसन भगवान शिव ने बताए हैं। उनमें से भी भगवान शिव ने चौरासी (84) आसन महत्त्वपूर्ण बताए हैं। चौरासी आसन ही चौरासी लाख आसनों के सार स्वरूप हैं। इन चौरासी आसनों में से योगारूढ़ साधकों के लिए दो महत्त्वपूर्ण आसन हैं: 1. सिद्धासन 2. कमलासन (पद्मासन)।

षट्चक्र वर्णन

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा चक्र।

नाड़ियाँ:-

गोरक्षनाथ जी ने मानव शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ बताई हैं, उनमें से प्रधान 72 (बहत्तर) नाड़ियाँ हैं। उन बहत्तर नाड़ियों में भी दस (10) नाड़ियों को सबसे महत्त्वपूर्ण बताया है।

दस नाड़ियों का स्थान इस प्रकार है:- 1. इड़ा (Left Nostril), 2. पिंगला (Right Nostril) 3. सुषुम्ना (Centre), 4. गान्धारी (Left eye), 5. हस्तजिह्वा (Right eye), 6. पूषा (Right Ear), 7. यशस्विनी (Left Ear), 8. अलम्बुषा (Mouth), 9. कुहू (Penis Region), 10. शंखिनी (Anus)।

प्राण:-

दस प्राण

प्राण	**उपप्राण**
1. प्राण	1. नाग
2. अपान	2. कूर्म
3. समान	3. कृकर/कृकल
4. उदान	4. देवदत्त

5. व्यान 5. धनञ्जय

जब व्यक्ति श्वास अन्दर लेता है तो वह सकार ध्वनि करते हुए अन्दर जाता है और जब श्वास बाहर छोड़ता है, तो हकार की ध्वनि के साथ बाहर आता है। इस प्रकार सभी जीव स्वाभाविक ही 'हंस हंस' मंत्र का जाप करते रहते हैं। एक दिन रात में अथवा 24 घण्टे में 21600 मंत्र जीव सदा जपता रहता है, इसी को ही अजपा गायत्री कहते हैं, जो योगियों को मोक्ष प्रदान करने वाली है। यह गायत्री प्राणधारिणी, प्राणविद्या और महाविद्या है। इसको जानने वाला ही वेदों का ज्ञाता है।

गुरु गोरक्षनाथ कुण्डलिनी के बारे में कहते हैं कि नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान (मणिपुर चक्र) में यह कुण्डलिनी अष्टधा (आठ प्रकार की) होकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को रोककर रखती है।

योगी को करणीय–

शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास के कारण शरीर के अंगों में पसीना आता है। उस पसीने को शरीर के अंगों में ही मल लेना चाहिए। कटु, अम्ल, लवण आदि रसों से युक्त भोजन नहीं करना चाहिए। दूध का सेवन करें। ब्रह्मचारी, मिताहारी, त्यागी और योगपरायण रहें। सुखद, हितकारी, स्निग्ध (चिकना), मधुर भोजन का सेवन करें तथा पेट को एक चौथाई खाली रखें। भोजन करने से पहले अपने इष्टदेव के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए जो साधक आहार सेवन करता है, वह मिताहारी कहलाता है।

पंचमुद्रा कथन

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः॥[1]

पंच मुद्रा

1. महामुद्रा
2. नभोमुद्रा (खेचरी मुद्रा)

---

1. गोरक्ष संहिता 1/56

3. उड्डीयान बन्ध

4. जालन्धर बन्ध

5. मूल बन्ध

जो साधक इन पाँचों मुद्राओं का अभ्यास करके निपुणता प्राप्त कर लेता है उसी को ही मुक्ति मिलती है।

प्रणवजप

1. पद्मासन मे स्थिर होकर, दृष्टि नासिका के अग्र भाग में स्थिर करें और प्रणव का जप करें। प्रणव का जप वाणी से, उपांसु और मन से जप करना चाहिए।

वायु निरोधाभ्यास

प्राण वायु के चंचल होने से बिन्दु भी चंचल हो जाता है। प्राणवायु निश्चल होने से बिन्दु भी स्थिर हो जाता है। सभी योगी, मुनि, साधक, सन्यासी आदि सभी प्राण का निरोध करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वायु को ही प्राण कहा जाता है। हठयोग के अन्य ग्रन्थों की तरह इसमें भी प्राणायाम से पहले नाड़ीशोधन प्राणायाम करने का विधान बताया गया है।

द्वितीय शतक

द्वितीय शतक में प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। प्राणायाम की तीन क्रियाएं रेचक, पूरक और कुम्भक प्रणवात्मक बताई गई हैं। प्राण अपान को संयुक्त करने के लिए पूरक बारह मात्राओं से करना चाहिए, कुम्भक में सोलह मात्रा और रेचक में दश मात्राएं होती हैं। यह अधम (निम्न) प्राणायाम है। मध्यम प्राणायाम में इससे दोगुनी मात्राएं और उत्तम में तिगुनी मात्राएं होती हैं। अधम प्राणायाम में पसीना, मध्यम में कम्पन्न और उत्तम में योगी हल्का होकर भूमि से ऊपर उठने लगता है।

षडांग योग के लाभ बताते हुए गुरु गोरक्षनाथ जी कहते हैं:

आसनों से शरीर के रोग दूर होते हैं, प्राणायाम से सभी पाप मिटते हैं, प्रत्याहार से मन के विकार मिटते हैं, धारणा से धैर्य की वृद्धि होती है, ध्यान से अद्‌भुत चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है। समाधि से सभी शुभ-अशुभ कर्मों का त्याग होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रत्याहार

यह षडांग योग का तीसरा सोपान है। चक्षु आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से पृथक कर लेना ही प्रत्याहार है। जैसे दिन के तीसरे काल में सूर्य अपनी प्रभा को समेट लेता है, वैसे ही योगी भी योग के तीसरे अंग अर्थात् प्रत्याहार से मन के विकारों को हर लेता है। जैसे कछुआ मुसीबत आने पर अंगों को अपने में छिपा लेता है, वैसे ही योगी भी प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर आत्मा में लीन कर लेता है। इसके बाद विपरीतकरिणी मुद्रा, अनाहत चक्र से नाद, काकी मुद्रा, खेचरी मुद्रा, विशुद्ध चक्र आदि को सिद्ध करने की विधि व लाभों का भी वर्णन इसी शतक में किया गया है।

धारणा

यह षडांग योग का चतुर्थ सोपान है। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर ही धारणा का अभ्यास करना चाहिए। हृदय प्रदेश में मन की निश्चलता के साथ पाँच महाभूतों की धारणा करनी चाहिए। धारणा के पाँच प्रकार निम्नलिखित हैं:-

1. पृथिवी की धारणा- पृथ्वी तत्त्व पर विजय प्राप्त होती है। 2. जल की धारणा- दु:सहास कालकूट विष भी भस्म हो जाता है। 3. अग्नि की धारणा अग्नि तत्त्व पर विजय प्राप्त होती है। 4. वायु की धारणा आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है। 5. आकाश की धारणा- मोक्ष के बन्द कपाट खुल जाते हैं।

ध्यान

अपने चित्त में आत्म तत्त्व का चिन्तन करना ही ध्यान है। यह

दो प्रकार का होता है- 1. सकलं (सगुण), 2. निष्कलं (निर्गुण)[1]

ध्यान से सभी प्रकार के पापों का निवारण होता है। ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती। आत्मध्यान से अमरत्व प्राप्ति, कैवल्य प्राप्ति, अष्ट सिद्धि प्राप्ति, कुण्डलिनी जागरण आदि ध्यान करने के लाभ बताए गए हैं। हजारों अश्वमेघ और सैकड़ों वाजपेय यज्ञों के करने का फल भी अकेले ध्यान योग के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है।[2]

समाधि

यह षडांग योग का अन्तिम सोपान है। ध्यान और समाधि के भेद को स्पष्ट करते हुए गुरु गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि जब तक पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में अपने-अपने विषयों का अंश विद्यमान रहता है तब तक साधक की ध्यानावस्था बनी रहती है और जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ सम्पूर्ण रूप से आत्मा में लीन हो जाती है, तब ध्यान की अवस्था ही समाधि में परिवर्तित हो जाती है।[3] प्राणवायु का पाँच घड़ी तक अवरोध करना धारणा है। साठ घड़ी तक चित्त को एकाग्र रखना ध्यान और सात सौ बीस घड़ी (बारह दिनों) तक प्राणों का संयम करना ही समाधि कहलाता है। जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य होना तथा संकल्प-विकल्पों को छोड़कर ध्येय में लीन हो जाना ही समाधि की अवस्था है। दूध में दूध, घृत में घृत, अग्नि में अग्नि मिलाने पर उनमें एकत्व स्थापित हो जाता है, उसी प्रकार योग साधक तत्त्व अथवा परमपद में मिलकर एक हो जाता है।[4] द्वितीय शतक के अन्त में गुरु गोरक्षनाथ जी कहते हैं, जो साधक इस 'गोरक्ष संहिता' नामक ग्रन्थ को पूरे मनोयोग से पढ़ता है, वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त होकर योग की सिद्धि को अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। यह योगशास्त्र साक्षात् आदिनाथ भगवान शिव की ही दिव्य वाणी है अथवा उनके मुखारविन्द से ही निकला हुआ है।[5]

1. गोरक्ष संहिता 2/61-62
2. गोरक्ष संहिता 2/80
3. गोरक्ष संहिता 2/83
4. गोरक्ष संहिता 2/97
5. गोरक्ष संहिता 2/97

भक्ति सागर

लेखक का सामान्य परिचयः

भक्ति सागर के लेखक श्री सन्तचरण दास जी हैं इनका समय 1706-1785 के मध्य का रहा है। सन्त चरणदास (1706-1785) भारत के योगाचार्यों की श्रृंखला में प्रमुख योगी रहे है। इन्होंने योग साधना के उपरांत चरणदासी सम्प्रदाय की स्थापना की और समन्वयात्मक दृष्टि रखते हुए योगसाधना को विशेष महत्व दिया।

सन्तचरण दास का जन्म विक्रमी संवत् 1760 अर्थात् 1703 ईस्वी में गांव देहरा, जिला अलवर, राजस्थान में च्यवनगौत्रीय भृगुवंशी दूसरे परिवार में हुआ। उनके पिताजी का नाम श्री मुरलीधर दास और माताजी का नाम कूजो देवी था। सन्त चरणदास को पांच वर्ष की अल्पायु में ही गांव के बाहर नदी के किनारे भगवान वेदव्यास ने दर्शन दिये थे। बचपन से ही मोह- माया से विरक्त होकर अल्पायु में ही वे तार्थयात्रा के लिये निकल पड़े और शुकताल पहुचने पर श्रीगंगाजी के तट पर 'शुकदेव मुनि' से उनकी भेंट हुई। उन्हीं के सानिध्य में रहकर उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया और उन्होंने श्री चरणदास जी को गुरुदीक्षा प्रदान की। उसके बाद वे पुरानी दिल्ली में आकर रहने लगे और 14 वर्ष तक भक्ति और तप किया। फिर वे श्रीवृन्दावन में चले गये जहां श्रीराधा- कृष्ण युगल सरकार ने उन्हें दर्शन दिये। भक्ति और तप से मानवमात्र के दुखों को दूर करने लगे। उनकी ख्याति सुनकर दिल्ली के तत्कालीन बादशाह मुहम्मदशाह उनके पास आने लगे और उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। सन्त चरणदास जी कृष्ण-भक्ति की सशक्त डोर लिए जीवन के लक्ष्य साधन हेतु 'अष्टांग योग' की साधना का प्रचार करने लगे। 79 वर्ष की अवस्था में सन् 1739 विक्रमी अथवा 1782 ई० में चरणदास जी समाधिस्थ हुए।

ग्रंथ परिचय-

इस ग्रंथ में नाना प्रकार के भक्ति के विषय कविता के रूप में लिखे गये हैं, जिनको पढ़ने से प्रत्येक सज्जन परमेश्वर का भक्त हो

सके और सहज ही निन्दित कर्म से छूटकर मोक्ष को प्राप्त हो सके। भक्ति सागर मे अनेक विषयों का वर्णन किया है जिसमे ये मुख्य हैं-

ब्रज चरित्र, अष्टांग योग व उस के अंग, हठ योग व उसके अंग, हंस नाद उपनिषद, तत्व योग उपनिषद, सिखा उपनिषद्, छप्पय कवित्त, ब्रह्म ज्ञान व उसके अंग, तेज बिन्दु उपनिषद, सूक्ष्म कथा भक्त पदार्थ, धर्म जहाज, अमरलोक अखंड धाम आदि का वर्णन किया है।

मंगलाचरण

भक्ति सागर मे सर्वप्रथम व्रज चरित्र मे स्वामी चरण दास जी कहते है कि-

दीनानाथ अनाथ की, बिनती यह सुन लेहु।
मम हिय मन्दिर आय के, ब्रज लीला कह देह॥

चार वेद तुम को रटें, शिव सारद अरु शेष।
औरन शीस नवाय हों, कृष्ण करौ उपदेश॥

अर्थात् हे भगवान कृष्ण, हे दीनानाथ मुझ अनाथ की विनती सुन लो और मेरे मन मंदिर में आकार वृज की लीला कह दो। आप तो चारों वेदों के ज्ञाता हो अर्थात् आप सर्व ज्ञानी हो, आप ज्ञान की पराकाष्ठा हो, आप कल्याणकारी हो, आप सब के शिरोमणि हो, इस लिए मैं आपके चरणों में अपना शीश नवाता हूँ। हे कृष्ण आप मुझे मुक्ति का उपदेश करो।

प्रह्लादनारद पराशरपुंडरीक
व्यासाम्बरीष शुकशौनक भीष्मदाल्भ्यान्।

रुक्माङ्गदार्जुन वशिष्ठ
विभीषणादीन् पुण्यानिमान् परम भागवतान् नमामि॥

अर्थात्- प्रह्लाद, नारद पराशर, पुंडरीक, व्यास, अम्बरीष, शुकदेव, शौनक, भीष्म, दाल्भ्य, रुक्माङ्गद, अर्जुन (सहस्त्रार्जुन), वशिष्ठ और विभीषण आदि- इन पुण्य प्रदान करने वाले परम भक्तों को हम

नमस्कार करते हैं।

भक्ति शब्द का सामान्य अर्थः-

भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति भज् सेवायाम् धातु से हुई है, जिसका अर्थ सेवा करना या भजना है, अर्थात् श्रद्धा और प्रेमपूर्वक अपने इष्ट देवता के प्रति समर्पण ही भक्ति है। नारदभक्तिसूत्र में भक्ति को परम प्रेमरूप और अमृतस्वरूप कहा गया है। इसको प्राप्त कर मनुष्य कृतकृत्य, संतृप्त और अमर हो जाता है। महर्षि वेदव्यास ने पूजा में अनुराग को ही 'भक्ति' कहा है। भारतीय धार्मिक साहित्य में भक्ति का उदय वैदिक काल से ही दिखाई पड़ता है।

प्रथम दोहा

योग अष्टांग समझायहूं, भिन्न २ सब अंग।
पहिले संयम सीखये, ताते होय न भंग॥
मथुरा मण्डल परमशुचि, वृंदावन रस रास।
रच्यो शुकमुनी शिष्यने, नाम श्यामचरन्दास।

भक्ति सागर में वर्णित विषयः

1. अष्टांग योग 2. षट्चक्र 3. दश नाद 4. नाड़ी 5. षट्कर्म 6. मुद्राएं 7. बन्ध 8. अष्टसिद्धियों का वर्णन 9. पञ्च उपनिषद् वर्णन 10. चार युग वर्णन 11. अष्टांग वर्णन

1. अष्टांग योग

योग अष्टांग समझायहूं, भिन्न २ सब अंग।
पहिले संयम सीखये, ताते होय न भंग॥

काम क्रोध अरु लोभ को, मोह नहीं अभिमान।
रहे दीनता हू लिये, लगे न माया वान॥

गहि संतोष क्षमा हिय धारै, संयम करके रोग निवारै।
अहंकार को छोटा करिये, कुटिल मनोर्थचित्त
नहिंधरिये॥

आठ अंग कहुं योग के, सुनों चरण ही दास।
मेरे वचनन के विषय, चित दे करो निवास।

पहिले यम का अँग सुन लीजें, दूजे नियम कहों चित दीजे।
तीजे आसन हित कर साधौ, प्राणायाम चौथे आराधौ।।

प्रत्याहार पांचवां जानो, षष्ट धारना को पहिचानो।
सातों ध्यान मिटै सब वाधा, कहौ आठवां अंग समाधा।।

1. यम:- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धैर्य, दया, आर्जव, मिताहार, शौच।

2. नियम:- तप, संतोष, आस्तिक, दान, ईश्वरप्राणिधान, श्रवण, लज्जा, मति, जप, हवन।

3. आसन:- पद्मासन, सिद्धासन।

4. प्राणायाम:- अष्टकुंभक सूर्यभेदन, उज्जाई, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, केवली।

5 . प्रत्याहार:- स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:।

6. धारणा:- देशबन्धचित्तस्य धारणा।

7. ध्यान:- पदस्थ, पिंडस्थ, रुपस्थ, रुपातीत।।

8. समाधि:- भक्ति, योग, ज्ञान।।

1. यम- यम के 10 भेद-

1. अहिंसा:- प्रथम अहिंसाही सुन लीजै, मनकरि काहू दोष न कीजै। दूजे सत्य सत्यही बोले, हिरदै तौलि वचन मुख खोलै।

2. सत्य।

3. अस्तेय:- तीजे असते त्याग सुनीजै, तन मन सों कहु नाहिं हरीजै।

4. ब्रह्मचर्यः– चौथा ब्रह्मचर्य बतलाऊं, भिन्न–भिन्न करि ताहि सुनाऊं।

5. क्षमाः– पंचवी सुखदाई क्षमा जलन बुझावै सोय, जोटुक आवै घटविषे पातक डारै खोया।

6. धैर्यः– छठां अंग धीरज को जानौ, धीरजही हिरदय में आनौ।

7. दयाः– दया सातवीं अब सुनि लीजै, सब जीवन की रक्षा कीजै।

8. आर्जवः– अठवैं कहूं आर्य्यवै खोलै, कोमलहृदय सों कोमलबोलै।

9. मिताहारः– मिताहार जो नवें की समझ लेहु मनमाहि, सतगुन भोजन खाइये ऐसा वैसा नाहिं।

10. शौचः– दशवां शौच पंवित्तर रहिये, कर दातौन हमेशा नहइये।

2. नियम के 10 भेद

दूजा अंग नियमं का गाऊं, भिन्न– भिन्न सब अंग बतलाऊं।

1. तपः– पहला तप इन्द्री वश कीजै, इनके स्वाद सभि तजि दीजै।

2. संतोषः– दूजा अंग कहूं संतोषा, हानि भये नहि माने शोका।

3. आस्तिकः– तीजा अंग आस्तिक हैं जाका सुनो विचार, समझ समझ मनमें धरों ताको गहो संभार।

4. दानः चौथा दान अंग विधि होई, पात्र कुपात्र विचारै सोई।

5. ईश्वर पूजा–ः पंचम ईश्वर पूजा करिये, तन मन बुद्धि जहांलै धरिये।

6. श्रवणः– छठें सिद्धांत श्रवण सुन बानी, करि विचार गहिये मनमानी।

7. लज्जाः सातवां वहीं जु कहिये लाजा, स वह सकल संवारन काजा।

8. मतिः अष्टम हूं मती दृढ़ जो कहिये, सो विशेष साधनकूं चहिये।

9. जपः नवयें जाप करैं गहि मोना, मन जिज्ञासुं कीजै जौना।

10. हवनः दशवें समझौ होमही, कीजै दोय प्रकार, अंगन माहि साकिल्ल कूं, वेद कहे ज्यों डार।

3. अथ आसन वर्णनः-

चरणदास निश्चय करौ, बिन आसन नहि योग। जो आसन दृढ़ होय तो, योग सधै भजि रोग। आसन के 2 प्रकार 1. पद्मासनः- पहिले आसन पदम बताऊं, ज्यों की त्यों मूरति दिखलाऊं। 2. सिद्धासनः दूजा आसनसिद्ध जुकीजे, बावां पावं गुदाढिग दीजै।

4. अथ प्राणायाम वर्णन

इस मे आठ प्रकार के कुम्भकों का वर्णन किया है

चौथे प्राणायामही कहूं, सुनौ चित्त लाय।
जाबल जीवें पनकूं, चुड़ै गगन कूं धाय॥

अब आठौ कुंभक कहूं, नावं भेद गुण रुप शुकदेव कहें परसिद्ध हैंच, योगहि माहि अनूप।

प्रथमें कुंभकही कहूं, नावं जु सूरज भेद। दूजे ऊजाई सुनों, साधे छुटें खेद।

शीतकार अरु शीतली, पांचवी भस्त्रक जान। छठीं जु भ्रमरी नाम है, नीके समझि पिछान। नावं मूर्छा सातवीं, आठवीं केवल होये। रणजीता सबसे बड़ी, आयु बढ़ावै सोय।

1. सूर्यभेदन कुम्भक, 2. उज्जायी, 3. शीतकारी 4. शीतली 5. भस्त्रिका 6. भ्रामरी, 7. मूच्छा, 8. केवल कुम्भक

5. अथ प्रत्याहार वर्णन

प्रत्याहार जो पांचवां, समझाऊं चरणदास।
शुकदेव कह कहूँ खोलकरि, नीके समझौ तास॥

6. अथ धारणा वर्णन

तत्त्वनकी कहुं धारणा, तिनमें करै प्रवेश शनई शनई साधिकरि, पहुंचे निर्भयदेश।।

7. अथ ध्यान वर्णनः-

अंग धारणा का कहा, सो धारा चितमाहिं। ध्यान अंग बरणन करौं, मैं रहुं चरणन छाहिं।। ध्यान के 4 प्रकार

1. अथ पदस्थ ध्यान-:-

हिय पदपंकज ध्यानकरि, फिरि करि सारी देह। नखशिखलौं छविनिरखिकै, चरणन में चित्तदेह।

2. अथ पिंडस्थ ध्यान-:-

ब्रह्म सोई यह पिंड हैं, यामैं करि करि वास।
कमलन के लखि देवता, लहो परापत तास।।

3. अथ रूपस्थ ध्यानः-

रूपस्थ ध्यान को भेद सुनि, कीजै मन ठहराय।
देखे त्रिकुटी मध्य हे, निश्चल दृष्टि लगाय।।

4. अथ रूपातीत ध्यानः-

रूपातित शून्यध्यानहिंजानो, शून्यहि को परब्रह्म पिछानो।
चिदानंद ताकि हिय आनो, वाही में मनहीं को सानो।।

अथ समाधि वर्णन

अठवीं कहूं समाधि लक्षण वर्णन करुं।
तोको सव समुझाय तेरी दुविधा हरुं।।

भक्ति समाधिः-

सब इन्द्रिन को रोंकि के, करि हरि चरणन ध्यान।
बुद्धि रहै सुरत रहै, तौ समाधि मत मान।।

योग समाधिः-

> **आपा विसरै ध्यान में रहै सुरति नहिं नादी।**
> **लीन होय किरिया रहित, लागै योग समाधी।।**

ज्ञान समाधिः-

> **जबलगतत्व विचारि करि, कहें एक अरु दोय।**
> **ब्रह्मव्रत बांधे रहे, ह्यांलग ध्यानहिं होय।।**
>
> **ज्ञान रहित ज्ञाता रहित, रहित ज्ञेय अरु जान।**
> **लगी कभी छूटें नहीं, यह समाधि विज्ञान।।**

2. षट्चक्र

1. मूलाधार चक्र 2. स्वाधिष्ठान चक्र 3. मणिपुर चक्र 4. अनाहत चक्र 5. विशुद्धि चक्र 6. आज्ञा चक्र

3. दश नाद

1. चहचहाने का नाद 2. चिन्न की नाद 3. घंटे की नाद 4. शंखनाद 5. बीन जैसा नाद 6. ताल की ध्वनि 7. मुरली की ध्वनि 8. पखावज नाद 9. नफीरी नाद 10. सिंह नाद।

4. नाड़ियां

भक्ति सागर में 72,864 नाड़ियों का वर्णन किया गया है परंतु इनमें से 5 दायीं ओर और 5 बायीं ओर कुल 10 को श्रेष्ठ माना हैं। इनमें भी मुख्य तीन नाड़ियों को सर्वश्रेष्ठ माना गया हैं जो है: 1. पिंगला 2. इड़ा 3. सुषुम्ना।

5. षट्कर्म

1. नेति कर्म, 2. बस्ति कर्म, 3. त्राटक कर्म, 4. धौती कर्म, 5. नौली कर्म, 6. गजकर्म।

6. मुद्रा- 1. खेचरी मुद्रा, 2. भूचरी मुद्रा, 3. चांचरी मुद्रा, 4. अगोचरी मुद्रा, 5. उन्मनी मुद्रा।

7. बंध– 1. महाबंध, 2. जालंधर बंध, 3. उड्डीयान बन्ध, 4. मूलबंध।

8. अष्ट सिद्धि वर्णन

1. अणिमा 2. महिमा 3. लघिमा 4. गरिमा 5. प्राप्ति 6. प्रकाम्या 7. वशित्व 8. ईशित्व।

9. पंच उपनिषद वर्णन– 1.हंसनाथ उपनिषद्, 2.सर्वोपनिषद्, 3. तत्त्वयोग उपनिषद्, 4. योगशिखा उपनिषद्, 5. तेजोबिन्दु उपनिषद्।

10. चार युग वर्णन– 1. सत युग, 2. त्रेता युग, 3. द्वापर युग, 4. कलि युग।

11. अष्टांग वर्णन– 1. राग, 2. क्रोध, 3. मोह, 4. लोभ, 5. अभिमान, 6. शीलता, 7. दया, 8. माया।

मित्ताहारः–

मित्ताहार जो नामकी, समझ लेहु मन माहिं।
सतगुण भोजन खाइये, ऐसा वैसा नाहि।।
खावे अन्न बिचार के, खोटा खरा सम्हार।
जैसा ही मन होत है, तैसा हो आहार।।

सूक्ष्म चीकना हलका खावे, चौथा भाग छोड़कर पावे
वाण प्रस्थ के हो सन्यासी, भोजन सोलह आशु गिरासी।
कर गृहस्थ वत्तीस जु ग्रासा, आवै नींद न बहुत न श्वासा।
ब्रह्मचारी भोजन कर इतना पढ़न माहिं धीरज रहै जितना।

स्वामी चरण दास जी मिताहार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि भोजन सत्वगुण प्रधान होना चाहिए, मन को प्रसन्न करने वाला हो, शरीर व धातुओ को पुष्ट करने वाला हो मधुर और स्निग्ध होना चाहिए और भोजन को 32 बार चबाकर खाना चाहिए। पेट के चार भागों में एक भाग में ही भोजन को ग्रहण करें दूसरे भाग मे पानी तीसरे भाग मे हवा और

चोंथे भाग को खाली रखना है। इस प्रकार स्वामी चरण दास जी ने दोहों और चौपाईयों के माध्यम से भोजन, मित्ताहार, जीवन जीने के अनमोल पहलुओं के साथ-साथ योग का वर्णन किया है।

भक्ति सागर 1/1

भक्ति सागर- गुरु शिष्य संवाद अष्टांग योग

संदर्भ ग्रंथसूची

1. अथर्ववेद भाष्य, पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पारड़ी 1983
2. अथर्ववेद भाष्य, पंडित क्षेमकरण दास त्रिवेदी,
3. अमरकोष, व्याख्याकार डा. ब्रह्मानंद त्रिपाठी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान
4. अष्टांगयोग वैज्ञानिक विवेचन एवम् चिकित्सा, स्वामी देवव्रत आचार्य आर्ष योग संस्थान, मिर्जापुर, फरीदाबाद, हरियाणा
5. आत्मविज्ञान, स्वामी योगेश्वरानंद सरस्वती,
6. आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, साहित्य प्रकाशन,

   (ModernAbnormal Psychology) बाजार, हॉस्पिटल रोड, आगरा
7. उपनिषद संहिता, पंडित जगदीश शास्त्री, दिल्ली- 1970
8. उपनिषद समुच्चय, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, वाराणसी
9. उपनिषदों में संन्यासयोग, प्रो. ईश्वर भारद्वाज, क्लाशिकल पवलीसन कम्पनी, कर्मपुरा, नई दिल्ली
10. औपनिषदिक अध्यात्म विज्ञान, प्रो. ईश्वर भारद्वाज, कलाशिकल पवलीसन कम्पनी, कर्मपुरा, नई दिल्ली
11. ऋग्वेद भाष्यभूमिका, महर्षि दयानन्द सरस्वती, परोपकारणी सभा, अजमेर राजस्थान
12. ऋग्वेदसंहिता, पंडित श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर, पारड़ी 1983
13. ऋग्वेद हिन्दी भाष्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती, परोपकारणी सभा, अजमेर, राजस्थान

14. कल्याण (योगांक), हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
15. चरकसंहिता, महर्षि चरक।
16. ध्यानयोगप्रकाश, लक्ष्मणानन्द शास्त्री, वाराणसी 1922
17. धातुपाठ, महर्षि पाणिनि, गुरूकुल झज्जर, हरियाणा।
18. पतंजलि योगसूत्र एक समालोचनात्मक अध्ययन, पवन कुमार गुप्ता, दिल्ली 1979
19. पतंजलि योगदर्शन (स्वामी नारायणभाष्यसहित) श्री कृष्ण बल्लभाचार्य, 1933
20. पातंजलयोगभाष्य, उदयवीर शास्त्री, आर्ष प्रकाशन, नई दिल्ली
21. पातंजलयोगप्रदीप, स्वामी रामसुख दास, गीताप्रेस, गोरखपुर
22. पातंजलयोगसूत्र, अनुवादक महाप्रभूलाल गोस्वामी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान,
23. पातंजलयोगदर्शनभाष्य, आचार्य राजबीर शास्त्री, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली
24. पातंजल योगदर्शन, स्वामी हीरानंद, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1974
25. पातंजल साधना, स्वामी सच्चिदानंद योगी, पातंजलि योग धाम, हरिद्वार
26. प्राणविज्ञान, स्वामी योगेश्वरानंद सरस्वती, मुनि की रेती, ऋषिकेश
27. ब्रह्मविज्ञान, स्वामी मांगेश्वरानंद सरस्वती, मुनि की रेती, ऋषिकेश
28. ब्रह्मविद्या, स्वामी कृष्णानंद, ऋषिकेश
29. भारतीय संस्कृति का विकास वैदिक धारा, डॉ. मंगलदेव शास्त्री,
30. भारतीयदर्शन: आलोचना और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली
31. भारतीयदर्शन, बलदेव उपाध्याय, वाराणसी 1966

32. भगवतगीतारहस्य, बाल गंगाधर तिलक, पूना 1973
33. महायोग विज्ञान, नारायण देव तीर्थ
34. महाभारत, स्वामी जगदीश्वरानंद सरस्वती
35. यज्ञ योगविद्या, स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार
36. योगप्रदीपिका, ब्रह्ममुनि परीव्राजक गुरूकुल, लाढ़ोत, रोहतक-2004
37. योगसारसंग्रह, संपादक- रमा शंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी 1989
38. योगवासिष्ठ, ब्रह्म मित्र अवस्थी
49. योगवासिष्ठ, पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य, बरेली उ.प्र. 1978
40. योगामृतम्, डा. महेश प्रसाद सिलोढ़ी, मान्यता प्रकाशन, दिल्ली 2008
41. यजुर्वेदभाष्यभास्कर, महर्षि दयानन्द सरस्वती, परोपकारणी सभा, अजमेर, राजस्थान
42. विशुद्ध मनुस्मृति डॉ. सुरेन्द्र शास्त्री साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली, दिल्ली
43. वैदिक योगसूत्र, हरि शंकर जोशी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1967
44. वैदिक ऋषि एक अनुशीलन, कपिलदेव शास्त्री, कुरूक्षेत्र 1978
45. वैदिक वाङ्मय में प्राणतत्व, डॉ कृष्ण लाल,अनिल प्रकाशक, नई दिल्ली
46. वेदविद्यानिदर्शन, पंडित भगवत दत्त, गुरुकुल, झज्जर हरियाणा
47. वेद दर्शन योग, मेहिदास परमहंस
48. वेदार्ष कोश भाग 1, 2, 3 पंडित चमूपति आचार्य

49. वेदामृत (आर्षयोगोपनिषद), स्वामी वेदानंद, दयानंद तीर्थ गुरुकुल, झज्जर, हरियाणा

50. सर्वदर्शन भाष्य, वाराणसी

51. सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य कलकत्ता 1972

52. सत्यार्थ प्रकाश, महर्षि दयानन्द सरस्वती, परोपकारणी सभा, अजमेर, राजस्थान

53. सरल योगासन, प्रो. ईश्वर भारद्वाज (विभागाध्यक्ष, योग-विज्ञान) गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

54. सामवेद अध्यात्म भाष्य, पंडित विश्वनाथ विद्या मार्तण्ड

55. सांख्यसुधा, प्रो. महेश प्रसाद सिलोड़ी, मान्यता प्रकाशन, माया पुरी, नई दिल्ली 2009

56. स्वाध्याय प्रदीप, स्वामी वेदानन्द (दयानन्द तीर्थ), हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरूकुल झज्जर, हरियाणा

57. स्वाध्याय सन्दोह, स्वामी वेदानन्द (दयानन्द तीर्थ), हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरूकुल झज्जर, हरियाणा

58. हठयोग प्रदीपिका, स्वामी निरंजनानंद सरस्वती, बिहार स्कूल ऑफ योग, मुंगेर, बिहार

59. श्रीमद्भगवद्गीता (साधक संजीवनी), स्वामी रामसुखदास, गीताप्रेस, गोरखपुर

60. वेदों में योगविद्या-स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती दिव्ययोग मन्दिर हरिद्वार उतराखण्ड

डॉ. रमेश कुमार

यौगिक व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी डॉ. रमेश कुमार समसामयिक योगजगत् की एक सुप्रसिद्ध पहचान हैं। आप विभिन्न विश्वविद्यालयों से योग, संस्कृत, शिक्षा तथा हिन्दी आदि अनेक विषयों में परास्नातक (एम.ए.) शिक्षा शास्त्री (बी.एड.) और योग व संस्कृत मे नेट तथा 'विद्यावारिधि' (पी.एच्.डी.) उपाधि से अलंकृत योग की अप्रतिम प्रतिभा से सम्पन्न हैं।

आपका जन्म गाँव बिरड़, जिला झज्जर, हरियाणा मे यदुकुल शिरोमणि, तपोमूर्ति पिता श्री लाला राम व ममत्व की देवी श्रीमती चमेली देवी के घर मे 10 दिसंबर 1981 को हुआ, प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की राजकीय प्राथमिक पाठशाला से हुई। उसके बाद की शिक्षा ज्ञान-विज्ञान व योगमय गुरुकुलीय वातावरण में सम्पन्न हुई।

डॉ. रमेश कुमार ने सन् 2000 व 2003 में पुर्तगाल, यूरोप में जाकर ओलंपिक योगा स्पोर्ट्सकप में स्वर्ण पदक और "विश्व योग चौम्पियन" का अलंकरण प्राप्त किया तथा विश्व पटल पर भारत का गौरव बढ़ाया। आपके द्वारा अनेक पुस्तकें एवं विभिन्न शोधपत्र प्रकाशित हैं। अनेक संस्थाओं के द्वारा आपको सम्मान प्रदान किया गया हैं। वर्तमान समय में आप श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय [केन्द्रीय विश्वविद्यालय] नई दिल्ली के योग विज्ञान विभाग में सहायक आचार्य पद पर सेवारत हैं।

ग्रन्थ परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ "भारतीय वाङ्मय में योग परम्परा" [योग के आधारभूत तत्त्व] में वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त योग के विकास की परम्परा का विवरणात्मक चित्र खींचने का एक प्रयास किया गया है। योग के स्नातक एवं स्नातकोत्तर, नेट और पी-एच्.डी. के अध्येताओं तथा अन्य योगप्रेमी अध्येताओं के लिए समान रूप से अत्यन्त उपयोगी है। इस ग्रन्थ मे चार अध्याय हैं जिसके प्रथम अध्याय में- योग का अर्थ, परिभाषाएं एवं स्वरूप, इतिहास, महत्त्व व उद्देश्य योगी का व्यक्तित्व, आधुनिक युग में योग की उपयोगिता का परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय 'विभिन्न शास्त्रों में योग का स्वरूप' का वर्णन है जैसे- वेद, उपनिषदों, गीता, महाभारत, पुराणों, योगवासिष्ठ, जैन योग, बौद्ध योग, वेदान्त में योग, तन्त्र योग, आयुर्वेद में योग के स्वरूप आदि का विवरण दिया गया है। तृतीय अध्याय में योग के प्रकार, परम्परा एवं पद्धतियों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में योग के ग्रन्थों का सामान्य परिचय दिया गया है। अध्येताओं के उपयोग को ध्यान में रखते हुए आशा है यह ग्रन्थ उनकी ज्ञान पिपासा को शान्त करने में सहायक सिद्ध होगा।